श्री चन्द्रावली

नाटिका

सम्पादक

श्रीव्यथितहृदय

लेक्चरर

हिन्दू महिला विद्यापीठ

स्टूडेण्ट्स फ्रेण्ड्स

प्रयाग : काशी

विषय-सूची

भूमिका

नाटक क्या है ?

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी-साहित्य के प्रथम नाट्यकार हैं। उनके पूर्व के हिन्दी-साहित्य पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तो उसमें नाटक का पूर्ण अभाव पाते हैं। सर्व प्रथम भारतेन्दु जी में ही, हिन्दी के क्षेत्र के अन्तर्गत नाटक की प्रवृति उत्पन्न हुई। अतः उनके किसी नाटक का अध्ययन करने के पूर्व यह जान लेना अधिक आवश्यक है, कि नाटक क्या है, उसका जन्म किस प्रकार हुआ है, और वह हिन्दी-साहित्य के भीतर किस प्रकार उद्भवित होकर पल्लवित-पुष्पित हो सका है।

नाटक और नाट्य में 'नट्' शब्द समाहित है। 'नट' शब्द संस्कृत 'नट्' धातु से बना है। 'नट्' धातु का अर्थ है नृत्य करने वाला। 'नट्' की ही भाँति 'नाटक' और 'नाट्य' शब्द भी 'नट्' धातु से ही बना है, जिसका अर्थ है सात्त्विक भावों का प्रदर्शन। प्राचीनकाल में सात्त्विक भावों के प्रदर्शनकारी ही नट कहलाते थे। फलतः जिस साहित्य का सम्बन्ध इन नटों से होता था; अथवा जिसमें सात्त्विक भावों के प्रदर्शन की बात होती थी, उसे नाटक कहते थे। 'नाटक' नवीन शब्द है। अति प्राचीन काल में नाटक के स्थान पर 'रूपक' शब्द का ही अधिक प्रयोग होता था, और नाटक को रूपक का ही एक भेद माना जाता था। संस्कृत के नाट्य साहित्य में, जिसकी प्राचीनता श्लाघनीय है, 'रूपकों' की ही अधिकता मिलती है। रूपक के कई भेद हैं। प्राचीन काल में नाटक की गणना भी रूपक के भेदों के अन्तर्गत ही की जाती थी, किन्तु नाटक रूपक का एक ऐसा अंग है, जिसका स्वरूप उससे बहुत मिलता-जुलता है। अतः नाटक 'रूपक' का भेद होने पर भी, उसी के सदृश माना जाता रहा है। आज तो 'नाटक' का प्रयोग रूपक के ही अर्थ में स्वतन्त्र रूप से किया जा रहा है, वरन् कहना तो यह चाहिए, कि आज साहित्य के अन्तर्गत नाटक ही नाटक है, और उसका स्रोत रूपक विलुप्त सा हो गया है।

'रूपा रोपात्तु रूपकं' को रूपक कहते हैं; दूसरे शब्दों में रूपक वह है, जिसमें रूप का आरोप किया जाता है। 'नट' जब अभिनय करता था, तब वह किसी व्यक्ति का रूप बना करके उसके अनुसार ही आचरण करता था, और उसी के समान चेष्टाएँ भी प्रदर्शित किया करता था। उसके रूप और उसकी चेष्टाओं में इतनी कुशलता होती थी, कि वह अत्यधिक स्वाभाविक सी ज्ञात होती थी। जो नट अनुकरण करने में जितना ही अधिक कुशल होता था, उसके अभिनय में उतनी ही अधिक स्वाभाविकता उत्पन्न होती थी। 'रूपक' में अनुकरण की ही विशेषता

थी। नाटक का आधार भी अनुकरण ही था। अतः मौलिक परिभाषा के आधार पर 'नाटक' और रूपक में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।

प्राचीन काल में, साहित्य में रूपक की महत्त्व पूर्ण अवतारण हुई थी। संस्कृत का प्राचीन·नाट्य साहित्य रूपकों की रचना से भरा पड़ा है। संस्कृत साहित्य के प्राचीन आचार्यों ने 'रूपक' का मंथन करके उसकी विद्वता पूर्ण व्याख्यायें की हैं। उन्होंने रूपक के कई भेद, और उपभेद निश्चित किए हैं, तथा उनकी परिभाषाएँ देकर उनके स्वरूपों का निश्चित आकार-प्रकार बताया है। प्राचीन काल में रूपकों में संगीत, और काव्य का विधान भी होता रहा है। 'रूपक' की प्रवृति का अध्ययन करके प्राचीन आचार्यों ने उसे काव्य के अन्तर्गत ही माना है। आचार्यों के मतानुसार काव्य के दो भेद होते हैं—दृश्य, और श्रव्य। दृश्य काव्य में कवि स्वयं कुछ न कहकर, अपनी रचना का सम्पूर्ण व्यापार पात्रों के द्वारा चलाता है। दृश्य काव्य में पाठक अपनी आँखों के संमुख कवि की रचना का व्यापार देखते हैं, और उसके पात्रों द्वारा उसकी रचना के रहस्य पूर्ण तथ्यों को सुनकर आनंदित होते हैं; किन्तु श्रव्य काव्य में कवि स्वयं अपनी वस्तु का वर्णन करता है, और पाठक उसके वर्णन को सुनकर तथा पढ़ कर आनन्द लाभ करते हैं। रूपक और नाटक की गणना दृश्य काव्य के अन्तर्गत की जाती है। मुद्राराक्षस, शकुंतला, और स्कन्द गुप्त इत्यादि दृश्य काव्य हैं। रामायण, महाभारत, और साकेत यत्यादि श्रव्य काव्य की कोटि में आते हैं।

नाटक का जन्म

नाटक और मानव जाति का अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। नाटक मानव के आदि काल से, उसके साथ उसके जीवन सहचर के रूप में हैं। नाटक की प्रवृति, जिसे अनुकरण कहते हैं, मानव के हृदय के भीतर है। मानव अपने जन्म से ही अनुकरण-प्रिय होता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो यह ज्ञात होगा, कि मानव के जीवन का संपूर्ण व्यापार ही अनुकरण पर आधारित है। वह खाने, पीने, हँसने-बोलने, लिखने पढ़ने, और पहनने-ओढ़ने इत्यादि सब में अनुकरण ही करता था। उसकी विद्या और कलाओं में भी अनुकरण की ही प्रधानता है। अतः यह कहना ही पड़ेगा, की नाटक की प्रवृति मानव-हृदय के भीतर है।

किन्तु मानव जगत में नाटक का जन्म कब से हुआ, यह बताना अत्यधिक कठिन है। नाटक के जन्म के सम्बन्ध में लोगों के अपने विभिन्न मत हैं। एक प्रकार का मत तो उन लोगों का है, जो विकासवाद में विश्वास करते हैं, और दूसरा मत उन लोगों का है, जो पौराणिक विचारों में आस्था रखते हैं। विकासवादियों का कहना है, कि आज का मानव आदि काल में बनमानुस रहा होगा! उस समय उसका मुख्य-कार्य था, क्षुधा की ज्वाला शांत करना। क्षुधा की ज्वाला को शान्त करने में वह कितना संघर्ष करता रहा होगा! निश्चय वह संघर्षों से समाकुल होकर, एकाकी जीवन को त्याग कर सामूहिक रूप से जीवन बिताने लगा होगा!

सामूहिक रूप से जीवन व्यतीत करने में उसे कभी कभी युद्ध करने पड़े होंगे, और कभी कभी उसने शान्ति के सुखों का उपभोग भी किया होगा ! कभी वह विजयी हुआ होगा, और कभी पराजय की नैराश्य भावना से उसका हृदय भी कंपित हो उठा होगा ! कभी कभी उसने सामूहिक उत्सवों की भी व्यवस्था की होगी ! उत्सवों में, उसके हृदय के भीतर के आनन्द ने उसे नृत्य के लिए भी बाध्य किया होगा ! उसने दाम्पत्य जीवन भी व्यतीत किया होगा ! प्रेम और विरह का अनुभव भी उसने किया होगा ! प्रेम और विरह की अवस्थाओं में, उसके हृदय के भीतर से संगीत के रूप में भाव-लहरियाँ भी निकली होंगी ! कहा नहीं जा सकता, कि उसने अपने जीवन-अंचल में कितनी अनुभूतियों का संचयन किया होगा ! विकासवादियों का कहना है, कि उन्हीं अनुभूतियों के आधार पर नाटक का जन्म हुआ है।

विकासवादियों के मत के अनुसार ज्यों ज्यों मानव सभ्यता की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ता गया है, त्यों त्यों उसकी प्रवृतियाँ भी परिष्कृत, और उन्नति शील बनतीं गई हैं। प्रवृतियों के परिष्करण के परिणाम स्वरूप उसने जहाँ नाना क्षेत्रों में अपने जीवन का मनोरम शृंगार किया, वहाँ नाट्य कला के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण मर्यादा की स्थापना की। इसमें सन्देह नहीं, कि आदि काल में नाट्य कला मानव के जीवन तक ही सीमित थी, किन्तु जब अपनी प्रगति के पथ में उसने भाषा का आविष्कार किया, और वह लिखने-पढ़ने लगा, तथा अपनी अनुभूतियों को साहित्य के कोष में संचित करने लगा, तब नाटक का सम्बन्ध साहित्य से भी स्थापित हो गया ! साहित्य के अन्यान्य अंगों की उन्नति के साथ ही साथ नाट्य कला का भी अभ्युदय हुआ, और आज वह अपनी प्रगति शीलता से ही विश्व के साहित्य में इस गौरव पूर्ण पद पर आसीन है।

किन्तु जिनकी आस्था पौराणिक विचारों में हैं, वे विकासवादियों की इस कल्पित, और आधार-हीन कथा को स्वीकार नहीं करते। पौराणिक विचारों में आस्था रखने वाले नाटक को भी एक वेद मानते हैं। भरत मुनि नाटक रूपी वेद के मन्त्र-द्रष्टा ऋषि हैं। उन्होंने नाट्य कला के ऊपर लक्षण-ग्रन्थों की रचना की है। उनका लक्षण-ग्रन्थ अधिक प्राचीनतम् है; दूसरे शब्दों में उसे लक्षण-ग्रन्थों का आदि ग्रन्थ कहा जा सकता है। भरत मुनि ने अपने लक्षण-ग्रन्थ में नाटक की उत्पत्ति दैवी बताई है। उन्होंने इसके लिए एक पौराणिक कथा का भी उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है:—"सत्य युग के व्यतीत होने और त्रेता के प्रारम्भ में, एक बार देवताओं ने ब्रह्मा जी के पास जाकर प्रार्थना की, कि वे देवताओं के मनोरंजन के लिए ऐसे साधन उपस्थित करें, जिनसे देव गण दुःख के दिनों में भी अधिक आनन्द प्राप्त कर सकें। देवताओं की प्रार्थना पर, अधिक सोच-विचार के पश्चात् ब्रह्मा जी ने एक वेद की रचना की, जिसे नाट्य वेद कहते हैं। इस नवीन वेद की रचना में उन्होंने सभी वेदों से सहायताएँ ली हैं। उन्होंने ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय कला, और अथर्वण से रस लेकर

नाट्य-वेद की निष्पत्ति की है। विश्वकर्मा ने इसके लिए रंग मञ्च का निर्माण किया, भगवान आशुतोष तांडव, और माँ पार्वती ने लास्य नृत्य प्रदान किया। इसी प्रकार भगवान विष्णु ने भी चार नाट्य शैलियाँ दीं। इस प्रकार दैवी कलाओं, और गुणों से परिपूर्ण होकर, नाट्य-वेद लोगों के कल्याणार्थ और मनोरंजन के लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ। भरत मुनि इस पंचम वेद के प्रथम आचार्य माने जाते हैं; सर्व प्रथम उन्होंने ही अपने सौ-सौ पुत्रों को नाट्य वेद की शिक्षा दी, और उनके द्वारा उसका अभिनय भी कराया।

नाट्य कला का विकास

नाटक के जन्म के सम्बन्ध में ऊपर जिस पौराणिक कथा का उल्लेख किया गया है, उसका कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। उससे केवल इतना ही पता चलता है, कि नाट्य कला का इतिहास अति प्राचीन है। क्योंकि उक्त कथा के द्वारा उसका संबंध वेदों से जोड़ा गया है। वेद भारतीय जीवन के आदि स्रोत हैं। भारतीय विद्याएँ और कलाएँ वेदों से ही निःसृत हुई हैं। नाट्य कला के बीज भी वेदों में पाए जाते हैं। ऋग्वेद में यम, यमी, और पुरुरवा तथा उर्वशी के ऐसे कथोपकथन मिलते हैं, जिनमें नाटकत्त्व है। इन्द्र, अग्नि, सूर्य, उषस्, और मरुत् इत्यादि देवताओं के रूप में ऐसे स्तोत्र भी ऋग्वेद में मिलते हैं, जिनमें नाटकत्त्व का उभार है। सामवेद संगीत विद्या से पूर्ण है। अथर्ववेद में संगीत और वाद्य के साथ ही साथ नृत्य का भी उल्लेख है। वेदों से स्पष्ट पता चलता है, कि वैदिक काल में भारतीय आर्य देव पूजोत्सव, धार्मिक पर्वों, और ऋतु परिवर्तन के समय बड़े बड़े यज्ञ करते थे, और आपस में मिल कर नाचते गाते तथा अभिनय किया करते थे। मैक्स मूलर, लेवी, डा० हर्टेल, और डा० रिजवे इत्यादि पश्चिमी विद्वानों ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है।

डाक्टर रिजवे के मतानुसार प्रारंभिक काल में मृत आत्माओं को प्रसन्न करने, तथा उनकी सन्तुष्टि के लिए संगीत और नाटक इत्यादि का विशेष रूप से आयोजन किया जाता था। प्रोफेसर 'कोनों' ने भी एक स्थान पर इस बात का उल्लेख किया है, कि प्राचीन काल में लोक-रंजन के लिए संगीत, वाद्य, और अभिनय के विशेष आयोजन हुआ करते थे। उनके विश्वास के अनुसार नाटक की उत्पत्ति उन्हीं संगीतों, और वाद्यों के परिणाम स्वरूप हुई है। इन विदेशी विद्वानों के विचारों में कहाँ तक सार है, यह कुछ कहा नहीं जा सकता। इसी सम्बन्ध में यहाँ आचार्य पिशाल के मत का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। आचार्य पिशाल के मतानुसार भारतीय नाटकों का उदय कठपुतलियों के नृत्य से हुआ है। इसमें सन्देह नहीं, कि बृहत्कथा, और राजशेखर की बाल रामायण से यह प्रमाणित होता है, कि प्राचीन काल में भारत में कठपुतलियों का नृत्य होता था। महाभारत में भी कठ पुतलियों के नृत्य का उल्लेख मिलता है। पर भारतीय नाटकों का उदय कठ-

पुतलियों के नृत्य से हुआ है, यह बात समझ में नहीं आती; वास्तविक बात तो यह है, कि भारतीय नाटकों के उदय और उसके विकास की मूल भित्ति में न तो लौकिक और सामाजिक कृत्यों की प्रधानता है, और न कठ पुतलियों के नृत्य की ही भावना! हमारा देश आदि काल से धार्मिक, और कर्मकांडी के रूप में विख्यात रहा है। हमारे देश के जीवन का प्रत्येक क्षेत्र धार्मिक भावनाओं से ओत प्रोत है। अतः भारतीय नाटकों के उदय और विकास में भी धार्मिक भावों, और वैदिक कर्मकांडों की ही प्रधानता है। वेदों से यह बात प्रगट भी होती है।

रामायण, महाभारत, और पुराणों से भी भारतीय नाट्य कला की प्राचीनता विदित होती है। रामायण के कई स्थलों पर नट-नर्तकों का उल्लेख मिलता है। 'महाभारत' में भी 'नट' शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। 'हरिवंश पुराण' में राम जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में कौवेर रंभाभिसार नाटकों के खेले जाने का वर्णन है। 'अग्नि पुराण' में भी श्रव्य, और दृश्य काव्यों की विवेचना मिलती है। इन बातों का कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं हैं; क्योंकि इनके काल के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक निश्चित तथ्य अब तक नहीं उपलब्ध हो सका है। इनसे तो केवल इतना ही ज्ञात होता है, कि भारतीय नाट्य कला चिर प्राचीन है, और वेदों में स्पष्ट रूप से उसका बीज मिलता है।

किन्तु वैदिक काल में भारतीय नाटकों की रचना भी हुई थी, इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता। भारतीय नाट्य साहित्य की आज जो ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है, उससे इस बात का पता चलता है, कि सर्व प्रथम भारतीय नाटकों की रचना पाणिनि के समय में हुई। पाणिनि का समय ई० से पूर्व प्रायः ५०० वर्ष माना जाता है। पाणिनि ने अपने व्याकरण में दो नट सूत्रों के सम्बन्ध में चर्चा की है, जिनके नाम कृशाश्व और शिलालिन् है। पाणिनि से लगभग डेढ़ शताब्दी पहले पातंजलि ने अपने महा भाष्य में नाट्य कला का उल्लेख करते हुए 'कंस वध' और 'बलि बन्धन' की चर्चा की है।

किन्तु विद्वानों ने अधिक छान बीन करने के पश्चात् यह निश्चय किया है, कि भारतीय नाट्य कला का विकास इसके बहुत पूर्व ही हो चुका था। पुराणों में स्पष्ट रूप से नाटकों के अभिनय की बात का उल्लेख है। 'रामायण' में भी अभिनय, और अभिनेताओं के कई प्रसंग मिलते हैं। सबसे अधिक महत्त्व पूर्ण बात तो ईसवी शताब्दी के आस पास कालिदास, अश्वघोष, हर्ष, और भवभूति इत्यादि नाटककारों का आविर्भाव है। इन नाट्यकारों की रचनाओं में नाट्य कला का जो विकसित और उज्वल स्वरूप मिलता है, उससे यह स्पष्ट रूप से आभासित होता है, कि भारतीय नाट्य कला का विकास इसके बहुत पूर्व हो चुका था। बौद्ध धर्म-ग्रन्थों में भी नाट्य कला के सम्बन्ध में महत्त्व पूर्ण बातें मिलती हैं। चुल्ल बग्ग के 'विनय पिटक' में एक रंग शाला का उल्लेख किया गया है, जो 'कीटागिरि' में बनी हुई थी। इसी ग्रन्थ में दो भिक्षुओं के, जिनका नाम अश्वजित और पुनर्वसु

था, नर्तकियों से बात करने, और नाटक देखने के अपराध में प्रब्राजकीय दंड की कथा लिखी हुई है। जैन कल्प-सूत्रों में भी, जिनका समय ईसा से ३०० वर्ष पूर्व है, एक साधु के नाटक देखने की बात का उल्लेख है। भरत मुनि के लक्षण-ग्रन्थों से भी इस बात का पता चलता है, कि उनके पूर्व भारतीय साहित्य में कई महत्त्व-पूर्ण नाटकों की रचना हो चुकी थी। क्योंकि उन नाटकों का मंथन करने के पश्चात् ही भरत मुनि ने अपने लक्षण-ग्रन्थों की रचना की थी। भरत मुनि ने अपने नाटक शास्त्र में स्वयं 'अमृत मंथन', और 'त्रिपुर दाह' नामक दो नाटकों का उल्लेख किया है।

इन सब बातों से स्पष्ट रूप से यह आभासित होता है, कि भारतीय नाट्य कला का इतिहास चिर प्राचीन है। आज जो ऐतिहासिक तथ्य हमारे संमुख हैं, वे इस बात पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं, कि आज से लगभग ढाई सहस्त्र वर्ष पूर्व हमारे देश में नाट्य कला का भली भाँति विकास हो चुका था।

किन्तु कुछ विदेशी विद्वानों की धारणा इसके विपरीत है। उनका कथन है, कि भारतीय नाट्य कला का उद्भव और उसका विकास यूनानी नाट्य कला की प्रेरणा से हुआ है। वे अपने इस कथन के प्रमाण में भारतीय नाटकों में व्यवहृत 'यवनिका' शब्द उपस्थित करते हैं। वे इस शब्द को सामने उपस्थित करके यह कहते हैं, कि 'यवनिका' यवनों, अर्थात् ग्रीकों से भारतीय नाट्य कला में ग्रहण की गई है, किन्तु स्वर्गीय प्रसाद जी ने अपने रंग मंच शीर्षक निबन्ध में विदेशी विद्वानों के मत का खंडन किया है। उनका खंडन उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है:—'कुछ लोगों का कहना है, कि भारतवर्ष में 'यवनिका' यवनों अर्थात् ग्रीकों के नाटकों से ली गई है, किन्तु मुझे यस शब्द शुद्ध रूप से व्यवहृत 'जवनिका' भी मिला। अमर कोष में—'प्रति सीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी व सा', तथा हलायुध में—'अपटी कांड पटः स्याम् प्रति सीरा जवनिका तिरस्करिणी।' इसमें 'य' से नहीं, किन्तु 'ज' से ही जवनिका का उल्लेख है। 'जवनिका' से शीघ्रता का द्योतन होता है। 'जव' का अर्थ वेग और त्वरा से है। तब 'जवयिका' उस पट को कहते हैं, जो शीघ्रता से उठाया, या गिराया जा सके।'

इतिहास से भी इस बात का निराकरण होता है, कि भारतीय नाट्य कला पर यूनानी नाट्य कला का कुछ भी प्रभाव नहीं है। भारतीय नाट्य कला अपनी मौलिक कला है। उसका उद्भव अपने ही क्षेत्र में हुआ है, और अपने ही क्षेत्र के साधनों तथा उपकरणों से उसका पूर्ण विकास हुआ है। आज जो ऐतिहासिक तथ्य मिलते हैं, उनसे पता चलता है, कि भारत पर सिकन्दर का आक्रमण ईसा के पूर्व सन् ३२६-२७ में हुआ था। इससे पूर्व भारतीयों और ग्रीकों के संपर्क तथा जीवन-व्यवहार की कोई बात इतिहास में नहीं मिलती! किन्तु उन्हीं ऐतिहासिक तथ्यों से इस बात का भी पता चलता है, कि सिकन्दर के आक्रमण के बहुत पूर्व भारतीय साहित्य में नाट्य कला का विकास हो चुका था। भारतीय नाट्य कला,

और ग्रीक कला में अधिक मौलिक मतभेद भी है। ग्रीक नाट्य कला में ग्रीक संस्कृति का बीज निहित है। पर भारतीय नाट्य कला भारतीय संस्कृति, और सभ्यता से प्रभावित है। यूनानी नाट्य कला जीवन को दूर रख करके अपने व्यापार का सृजन करती है। मानव जीवन कैसा होना चाहिए—यूनानी नाट्य कला इस ओर ध्यान नहीं देती। भारतीय नाट्य कला मानव-जीवन को ही लक्ष्य मान कर अपने व्यापार का सृजन करती है। यूनानी नाटकों में चरित्र की प्रधानता होती है। उनके चरित्रों में दुःख और निराशा की भावना मुख्य रूप से पाई जाती है। पर भारतीय नाटक प्रकृति और रस प्रधान होते हैं। भारतीय नाटकों में दुःख, और निराशा के लिए कोई स्थान नहीं होता। भारतीय नाटकों की दृष्टि 'सुख' और 'आनन्द' की ही ओर रहती है। यूनानी नाटक जहाँ यथार्थवादी होते हैं, वहाँ भारतीय नाटक आदर्श की ओर उन्मुख होते हैं।

इस प्रकार भारतीय नाट्य कला पूर्ण रूपेण मौलिक है। उसका जन्म और उसका विकास अपने ही देश के तत्त्वों के आधार पर हुआ है। अपने ही देश के तत्त्वों से उसका पालन-पोषण हुआ है। उसके प्रसाधन में भी, अपने ही देश के तत्त्वों की छटा सन्निहित है।

प्राचीन नाट्यकला का स्वरूप

आगे चल कर हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की चन्द्रावली नाटिका की विवेचना करेंगे। यहाँ यही हमें इष्ट है; अतः चन्द्रावली नाटिका के गठन और उसके स्वरूप को ही लक्ष्य करके अब हम आगे बढ़ने का प्रयत्न करेंगे। हम यह कह चुके हैं, कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी के आदि नाट्यकार हैं। उन्होंने जब नाटकों की रचना प्रारम्भ की, उस समय नाट्य कला के नाम पर उनके सामने जो कुछ था, वह सब प्राचीन ही प्राचीन था। इसमें सन्देह नहीं, कि बँगला, और अँगरेजी के माध्यम से, उन्होंने नवीनता की ओर भी दृष्टिपात किया है। पर उनकी नाट्य कला अधिकांशतः प्राचीन सिद्धांतों पर ही आधारित है। उन्होंने नाट्य कला के प्राचीन सिद्धान्तों को ही सामने रख कर अपने नाटकों की रचना की है। 'चन्द्रावली' का निर्माण भी प्राचीन नाट्य कला के ही आधार पर हुआ है। अतः 'चन्द्रावली' की विवेचना में प्रवेश करने के पूर्व नाट्य कला के प्राचीन स्वरूप को समझ लेना परमावश्यक है।

पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है, कि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार काव्य के दो भेद हैं—श्रव्य काव्य, और दृश्य काव्य। श्रव्य काव्य का सम्बन्ध केवल श्रवणेन्द्रिय से होता है। श्रव्य काव्य के भीतर जो लोकोत्तर आनन्द छिपा रहता है, वह पढ़ और सुन करके ही प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु दृश्य काव्य का सम्बन्ध श्रवणेन्द्रिय, और चक्षुरिन्द्रिय-दोनों से ही होता है। विशेषतः उसका अधिक सम्बन्ध चक्षुरिन्द्रिय से ही अधिक होता है। चक्षुरिंद्रिय और दृश्य काव्य

का पारस्परिक अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। चक्षु रिंद्रिय का संपूर्ण व्यापार 'रूप' पर ही आधारित होता है। दृश्य काव्य में भी 'रूप' की भावना की मुख्यता होती है। दृश्य काव्य में दर्शक 'रंग मंच' के द्वारा 'रूप' का ही अनुभव करता है। इस रूपानुभव में पात्रों, और पात्रियों की अनुकृति की प्रधानता होती है। अनुकृति में दृष्टि को केन्द्रित, और प्रसन्न रखने के लिए ही पात्रों के 'रूप' की व्यवस्था की जाती है। 'दृश्य काव्य' में 'रूप' की भावना की प्रधानता होने ही के कारण उसे 'रूपक' की संज्ञा दी गई है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए, कि 'रूपक' में केवल अनुकृति की प्रधानता होने से ही वह सम्पूर्ण हो जाता है। वास्तव में बात यह है, कि 'रूपक' में अनुकृति के साथ ही साथ वास्तविकता, और स्वाभाविकता होनी चाहिए। इसका यह तात्पर्य यह है, कि रंग मंच पर अभिनेता के द्वारा जिस रूपक की संयोजना की जाय; दूसरे शब्दों में जो अभिनय किया जाय, उसे देख कर दर्शक के हृदय में यह प्रतीति उत्पन्न हो जाय, कि वह जो कुछ देख रहा है, सत्य है— वास्तविक है। इस प्रतीति से ही दर्शक के हृदय में उस रस की निष्पत्ति होती है, जो दृश्य काव्य के भीतर समाविष्ट रहता है।

रस दृश्य काव्य का एक उपकरण है। 'नृत्' और 'नृत्य' भी दृश्य काव्य के उपकरण हैं। प्राचीन आचार्यों ने नाट्य शास्त्र को तीन भागों में विभाजित किया था—नाट्य, नृत और नृत्य। कहा जाता है, कि तदनंतर भगवान शिव ने उसके दो भेद और बढ़ा दिये—ताण्डव, और लास्य। हम पहले यह कह चुके हैं, कि नाटक दृश्य काव्य के अन्तर्गत है। दृश्य काव्य सात उपकरणों में विभक्त है—(१) अभिनय; (२) वास्तविकता की प्रतीति, (३) रस का उद्रेक (४) नृत्य, (५) नृत, (६) संगीत और (७) कथोपकथन।

प्राचीन नाटयकारों ने दृश्य काव्य के उक्त उपकरणों को दृष्टि में रख कर उसके दो मुख्य भेद किये हैं—रूपक, और उपरूपक। रूपक में रस की प्रधानता होती है। रूपक वही सर्व श्रेष्ठ और सफल समझा जाता है, जो रस मय होता है। 'रूपक' में रस की निष्पत्ति 'नृत' और 'नृत्य' इत्यादि उपकरणों के ही द्वारा होती है। जिस प्रकार विभाव-अनुभाव रस की परिपुष्टि में सहायक होते हैं, उसी प्रकार 'नृत' और 'नृत्य' की सहायता से ही 'रूपक' में रस की निष्पत्ति होती है। 'उपरूपक' की प्रकृति रूपक से पृथक होती है। 'रूपक' में जहाँ 'रस' की प्रधानता होती है, वहाँ 'उपरूपक' 'अनुकृति' प्रधान होता है।

रूपक का गठन वस्तु, पात्र, और रस के आधार पर किया जाता है। भरत मुनि ने वस्तु, पात्र, और रस की दृष्टि से ही रूपक के दस भेद बताये हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—१ नाटक, २ प्रकरण, ३ भाण, ४ प्रहसन, ५ डिम, ६ व्यायोग, ७ समवकार, ८ वीथी, ९ अंक, और १० ईहा मृग।

(१) नाटक—यह 'रूपक' का एक मुख्य भेद है। नाट्य शास्त्र के सभी लक्षण, नियम, और रस नाटक में समाविष्ट होते हैं। इसकी महत्व पूर्ण प्रकृति के ही कारण

नाट्याचार्यों ने 'नाट्य प्रकृति' इसकी संज्ञा दी है। इसका निर्माण ऐतिहासिक कथाओं के आधार पर किया जाता है। नायक इसका धीरोदात्त होता है। इसमें पाँच से दस तक अंक होते हैं। प्रथम पाँच अंकों की अपेक्षा छठाँ अंक छोटा होता है।

(२) प्रकरण—इसका निर्माण लौकिक, और काल्पनिक कथाओं से किया जाता है। नायक धीर शांत होता है। नायिका कुल कन्या और वेश्या होती है। आचार्यों ने इसके तीन भेद बताए हैं, जिनके नाम शुद्ध, विकृत, और संकीर्ण हैं।

(३) भाण—इसका सृजन कल्पित कथा के आधार पर किया जाता है। पात्र एक या दो होते हैं। पात्र अपने या दूसरों द्वारा धूर्तता पूर्ण संपादित कार्यों पर स्वयं प्रश्नोत्तर के रूप में प्रकाश डालते हैं। इसका नायक श्रृंगार की सृष्टि करता है, जिसका आधार 'शूरता' और सौंदर्य का वर्णन होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'विषस्य विष मौषधम्' इसका दृष्टांत है।

(४) प्रहसन—यह एक ही अंक का होता हैं। कथा कल्पनात्मक, और रस मुख्य रूप से हास्य होता है। 'अंधेरी नगरी' इसका दृष्टांत है।

(५) डिम—इसकी कथा का आधार इतिहास, और पुराण होता है। यह चार अंको का होता है। 'श्रृंगार' और 'हास्य' के साथ ही साथ शेष रस भी इसमें समाविष्ट रहते हैं।

(६) व्यायोग—कथा ऐतिहासिक और पौराणिक तथा नायक कोई दिव्य पुरुष होता है। भारतेन्दुजी का 'धनंजय विजय' इसका उदाहरण है। यह अपने स्वरूप में बहुत कुछ डिम से मिलता-जुलता है।

(७) समवकार—इसकी कथा ऐतिहासिक होती है, जिसका संबंध देवताओं, और दानवों से होता है। इसमें तीन अंक होते हैं। 'वीररस' की इसमें प्रमुखता रहती है।

(८) वीथी—यह कल्पनात्मक, और एक ही अंक का होता है। पात्र भी एक ही से होते हैं। हिन्दी साहित्य के अंतर्गत इसी ने एकांकी का रूप धारण किया है।

(९) अंक—इसकी कथा ऐतिहासिक होती है, किन्तु कल्पना का भी संमिश्रण रहता है। इसका रस करुण रस है। इसमें भी अंक एक ही होता है।

(१०) ईहामृग—इसकी कथा में इतिहास और कल्पना का संमिश्रण होता है। यह चार अंकों का होता है।

रूपक की भाँति उपरूपक के भी कई भेद होते हैं। आचार्यों के मतानुसार उपरूपक के अठारह प्रकार होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—(१) नाटिका, (२) त्रोटक, (३) गोष्ठी, (४) सट्टक, (५) नाट्य रासक, (६) प्रस्थानक, (७) उल्लाप्य, (८) काव्य, (९) रासक, (१०) प्रेंखण, (११) संलापक, (१२) श्री गदित, (१३) शिल्पक, (१४) बिलासिका, (१५) दुर्मल्लिका, (१६) प्रकरणिका, (१७) हल्लीश,

और (१८) भाणिका। इन भेदों में नाटिका, त्रोटक, प्रकरणिका, और सट्टक का मुख्य स्थान है ! यहाँ हम केवल 'नाटिका' पर ही प्रकाश डालेंगे; क्योंकि यही हमारा इष्ट है।

नाटिका – 'नाटक' और 'नाटिका' में प्रायः एक समानता होती है। 'नाटक' रूपक का एक भेद है, जो उसके ही अनुरूप होता है। 'नाटिका' उपरूपक के अठारह भेदों में प्रथम भेद है। इसकी मुख्यता यह है, कि इसमें 'नाटक' और 'प्रकरण' का मिश्रण रहता है। इस मिश्रण के कारण इसके दो पृथक-पृथक नाम भी हैं। 'नाटिका' जहाँ प्रकरण से मिलती है, वहाँ इसका नाम प्रकरणिका, और जहाँ 'नाटक' से मिलती है, वहाँ 'नाटिका' होता है।

नाटिका की कथा कल्पित और चार अङ्कों में विभाजित होती है। इसका नायक कोई नृपति होता है, जो 'धीर ललित' होता है। नायिका भी राजकुल की ही होती है। कभी कभी इसकी नायिका ऐसी भी कोई प्रेमवती सुन्दरी स्त्री होती है, जिसका सम्बन्ध रनिवास से होता है। 'नाटिका' में पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्री पात्रों की संख्या अधिक होती है। स्त्री पात्रों में नायिका—महारानी का आतंक नायक के हृदय पर सदा छाया रहता है। महाराणी के भय के कारण नायक सदा अपने प्रणय मे शंकित रहता है।

श्रृंगार रस नाटिका का मुख्य रस होता है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र जी की चंद्रावली इसका दृष्टांत है।

'रूपक' और उपरूपक' के मुख्य रूप से तीन तत्त्व हैं—वस्तु, पात्र, और रस। 'अभिनय' और 'वृत्ति' को भी इसमें स्थान दे देने से इसके तत्त्वों की संख्या पाँच हो जाती है वस्तु, पात्र, रस, अभिनय, और वृत्ति।

वस्तु—इसको कथा वस्तु और प्लाट भी कहते हैं। रूपक की सफलता बहुत अंशों में कथावस्तु की ही ओर देखती है। आधार की दृष्टि से यह तीन प्रकार की होती है—प्रख्यात, उत्पाद्य, और मिश्र। प्रख्यात वह कथावस्तु है, जो इतिहास पुराण, और जन श्रुतियों पर आधारित रहती है। 'उत्पाद्य' में कल्पना की प्रधानता रहती है। मिश्र कथावस्तु वह है, जिसमें कल्पना, और इतिहास का संमिश्रण होता है।

सङ्गठन की दृष्टि से भी इसके दो भेद हैं—आधिकारिक, और प्रासङ्गिक। आधिकारिक उस कथावस्तु को कहते हैं, जो मूल कथानक को सहायता प्रदान करने के लिए चुनी जाती है। इसका सम्बन्ध मुख्य रूप से मूल कथा से ही होता है। मूल कथा को सहायता प्रदान करने वाली और छोटी छोटी छोटी कथाएँ होती हैं, जिन्हें प्रासंगिक वस्तु कहते हैं। 'आधिकारिक' की भाँति इसका सम्बन्ध मूल कथा से मुख्य रूप से नहीं होता, किन्तु इससे पात्रों का सम्बन्ध अवश्य होता है।

प्रासंगिक कथाएँ दो प्रकार की होती हैं—पताका, और प्रकरी। पताका में

प्रासंगिक कथा का सम्बन्ध अन्त तक आधिकारिक कथावस्तु के साथ बना रहता है। किन्तु 'पताका' में प्रासंगिक कथा कुछ ही दूर आगे चल कर 'आधिकारिक' कथा का साथ छोड़ देती है।

कथोपकथन की दृष्टि से भी वस्तु के तीन भेद होते हैं—श्राव्य, अश्राव्य, और नियत श्राव्य। श्राव्य वह वस्तु है, जो सम्पूर्ण पात्रों के सुनने के योग्य हो। अश्राव्य वह है, जो सुनने के योग्य न हो। अश्राव्य को स्वगत भी कहते हैं। नियत श्राव्य वह है, जो केवल कुछ ही पात्रों के सुनने के योग्य हो। नियत श्राव्य के दो रूप हैं—अपवारित, और जनांतिक। छिपाने, और रहस्य पूर्ण ढंग से कटाक्ष करने को अपवारित कहते हैं। जनांतिक उस गुप्त संभाषण को कहते हैं, जो रंग मंच पर अनामिका को छोड़ कर तीन अँगुलियों की ओट से किया जाता है।

वस्तु का अभीष्ट उसका फल है; अर्थात् अर्थ, धर्म, और काम की प्राप्ति। वस्तु के अभीष्ट की प्राप्ति के लिए वस्तु के भीतर कुछ ऐसे साधन छिपे रहते हैं, जो अधिक चमत्कार पूर्ण होते हैं। वस्तु के उन चमत्कार पूर्ण साधनों को अर्थ-प्रकृति कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने इसके पाँच भेदों का उल्लेख किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैः—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, और कार्य। बीज नाटक का प्रमुख अंश होता है। नाटक के फल की संभावना बीज के ही भीतर अंतर्निहित रहती है। जिस प्रकार बीज में फल छिपा रहता है, उसी प्रकार बीज में 'नाटक का फल' तिरोहित रहता है; संक्षेप रूप में बीज उसे कहते हैं, जो कथा फल का मुख्य हेतु होता है, और जिसका विस्तार क्रम-क्रम से कथा की व्यापार-शृंखला के साथ होता जाता है। 'बिन्दु' उसे कहते हैं, जो बीज के अंकुरित होने, और कथावस्तु के अग्रसर होने पर, उपस्थित अप्रासंगिक और विरोधी विविध तत्त्वों को अविच्छिन्न रखता है। पताका और प्रकरी के संबंध में ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। कार्य उस प्रधान साध्य को कहते हैं, जिसकी पूर्णता के निमित्त आधिकारिक वस्तु के विधानों सम्पूर्ण प्रयत्नों के आरम्भ, और साधनों का एकत्रीकरण किया जाता है।

'रत्नावली' नाटिका में उदयन और रत्नावली का विवाह कार्य का दृष्टांत है।

कार्य की शृंखला को व्यवस्थित रखने के लिए, प्रत्येक रूपक में कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—१ आरम्भ, २ प्रयत्न, ३ प्राप्त्याशा, ४ नियताप्ति, ५ फलागम। आरम्भ उसे कहते हैं, जिसमें किसी अभीप्सित फल की प्राप्ति के लिए उत्कंठा होती है। अभीप्सित फल की प्राप्ति के निमित्त किये जाने वाले यत्न को प्रयत्न कहते हैं। फल प्राप्ति की आशा, या संभावना का नाम प्राप्त्याशा है। फल प्राप्ति के पूर्ण निश्चय को नियताप्ति, और फल हस्तगत होने की अवस्था को फलागम कहते हैं।

ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है, कि मूल वस्तु कथा के साथ ही साथ और भी उससे संबंधित दूसरी कथाएँ उसके अंग की भाँति होती हैं। मूल

कथा, और इन दूसरी संबंधित कथाओं के युक्ति पूर्वक मेल को सन्धि कहते हैं। रूपक का अभीष्ट 'फल' होता है। उस फल प्राप्ति के लिए रूपक में विविध घटनाओं और कथाओं का संयोजन किया जाता है। यद्यपि वे घटनाएँ, और कथाएँ पृथक होती हैं, पर सब का प्रयोजन एक ही होता है। रूपक में जो सूत्र, प्रयोजन की सिद्धि के लिए संपूर्ण घटनाओं और कथांशों का मूल कथा से सम्बन्ध स्थापित करता है, वही सन्धि के नाम से विख्यात है। संधि के पाँच भेद हैं—१ मुख, २ प्रतिमुख, ३ गर्भ, ४ विमर्श, और ५ निर्वहण।

किसी कथा की 'प्रारंभ' नामक अवस्था के संयोग से जब जहाँ ऐसे बीज की उत्पत्ति होती है, जो अनेक रसों, और अर्थों का व्यंजक होता है, तो वहाँ **मुख सन्धि** होती है। **प्रति मुख सन्धि** वह है, जिसमें बीज अंकुरित होता है। प्रति मुख संधि में 'बीज' की अवस्था कुछ प्रगट, और कुछ अप्रगट रहती है। **गर्भ सन्धि** उस स्थिति का नाम है, जिसमें 'बीज' का विस्तार और भी अधिक बढ़ जाता है। गर्भ संधि में 'प्राप्त्याशा' और 'पताका' नामक कार्यावस्थाओं का मेल रहता है; दूसरे शब्दों में उन प्रयत्नों की संघर्षशीलता दिखाई पड़ती है, जो फल-प्राप्ति की ओर अग्रसर होने के लिए किए जाते हैं। गर्भ संधि में इन प्रयत्नों का विकास, और ह्रास मुख्य रूप से विद्यमान रहता है। **विमर्श सन्धि** में बीज का और भी अधिक विस्तार होता है। इसमें **नियताप्ति और प्रकरी** का मेल होता है। इस संधि में फल प्राप्ति के मार्ग में शाप, क्रोध, भय, और दुःख इत्यादि बाधाएँ सामने आती हैं। इन बाधाओं के कारण फल प्राप्ति की आशा नष्ट हो जाती है। इसे **अवकश सन्धि** भी कहते हैं। **निर्वहण सन्धि** उसे कहते हैं, जिसमें अंतिम फल की प्राप्ति हो जाती है, और संपूर्ण विघ्न-बाधाएँ शांत हो जाती हैं। निर्वहण संधि में ऊपर की चारों संधियों में वर्णित सभी बातों का मेल मिल जाता है।

वस्तु में दो प्रकार की सामग्री रहती है। एक को **दृश्यवस्तु** और दूसरे को **सूच्यवस्तु** कहते हैं। जिस सामग्री का प्रदर्शन मंच पर किया जाता है, और जिसका विस्तार करना आवश्यक होता है, उसे **दृश्य वस्तु** कहते हैं। **सूच्य वस्तु** उस सामग्री को कहते हैं, जिसकी मंच पर सूचना मात्र दी जाती हैं। दृश्य वस्तु के अंतर्गत जो बातें आती हैं, वे 'अंकों' में दिखाई जाती हैं। किसी भी नाटक में पाँच से लेकर दस तक अंक हो सकते हैं। अंक घट-बढ़ कर होते हैं। सभी अंक परस्पर संबंद्ध और जुड़े हुए से होते हैं। दो अंकों के बीच में एक वर्ष तक का समय अंतर्निहित रहना चाहिए। यदि नाटककार इससे अधिक का समय दिखाना चाहता हो, तो उसे चाहिए कि वह घटा कर एक वर्ष या उससे कम कर दे और दर्शकों को इससे सूचित कर दे।

दो अंकों की घटनाओं के बीच में जो समयान्तर होता है, उसकी वास्तविक-सूचना देने के लिए प्राचीन आचार्यों ने एक विधान प्रचलित किया है। उस विधान को **अर्थोपक्षेपक** कहते हैं। अर्थोपक्षेपक पाँच प्रकार का होता है:—१ **विष्कंभक**,

२ प्रवेशक, ३ चूलिका, ४ अंकास्य ५ अंकावतार, विष्कंभक उस संक्षिप्त रीति या दृश्य को कहते है, जिसके द्वारा, पूर्व घटित और भविष्य में होने वाली घटनाओं की सूचना दी जाती है। इस सूचना का आधार दो पात्रों का कथोपकथन होता है। विष्कंभक कभी तो नाटक के प्रारंभ में आता है, और कभी दो अंकों के मध्य में भी आ सकता है। प्रवेशक वह है, जिसके द्वारा विष्कंभक की भाँति ही पूर्व घटित, और भविष्य में घटने वाली घटनाओं की सूचना दी जाती है। विष्कंभक और प्रवेशक में यह अंतर है, कि प्रवेशक में जो सूचना दी जाती है, उसकी भाषा निम्न कोटि की होती है, और सूचना देने वाला पात्र भी निम्न श्रेणी का होता है। प्रवेशक में सूचना प्रारंभ में न देकर, दो अंकों के मध्य में ही दी जाती है। चूलिका के द्वारा नेपथ्य के भीतर से किसी रहस्य की सूचना दी जाती है। अंकास्य में अंक के अंत में बाहर जाने वाले पात्रों के द्वारा अंक की कथा की सूचना दी जाती है। कभी कभी एक अंक के पात्र, उसकी समाप्ति पर बाहर चले जाते है, और जब दूसरा अंक प्रारंभ होता है, तो पुनः आकर उसमें सम्मिलित हो जाते हैं, इसे अङ्कावतार कहते हैं। अंकावतार में रंग मंच पर पात्रों में परिवर्तन किए बिना अगले अंक की कथा चलाई जाती है। 'चन्द्रावली' में अंकावतार का उल्लेख किया गया है, जो द्वितीय अंक की कथा में अंतर्संधि के रूप में है।

पात्र—रूपक में पात्र का अधिक महत्व पूर्ण स्थान है। रूपक पात्रों के ही द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होता है। रूपक में पात्र उन्हें कहते हैं, जो किसी का भी स्वरूप धारण करके उसकी अवस्था, या अवस्थाओं का अनुकरण करते हैं। पात्रों के चुनाव में अधिक सजगता से काम लेना चाहिए। पात्र जिसका अनुकरण करते हों, उसका संपूर्ण व्यक्तित्व उनके अनुकरण में आना चाहिए। अनुकरण करने वाले पात्र के कार्य, और उसकी वाणी तथा वेश भूषा इत्यादि में सादृश्य उत्पन्न होना चाहिए। 'सादृश्य' रूपक का प्राण है। जिस रूपक के पात्रों में जितना ही अधिक सादृश्य होता है, उसमें उतना ही अधिक रस और सौंदर्य उत्पन्न होता है।

पात्र के दो प्रकार होते हैं—प्रधान, और सहायक। प्रधान पात्र को ही नायक भी कहते हैं। नायक का सर्वाधिक महत्त्व पूर्ण स्थान होता है। रूपक की कथा आदि से लेकर अंत तक नायक के ही द्वारा अग्रसर होती हैं। नायक को ही फल प्राप्ति होती है, और वही संपूर्ण फलों का उपभोक्ता होता है। नायक कथा वस्तु का मुख्य अंग होता है। उसमें विनीतता, मधुरता, दक्षता, प्रिय वादिता, त्याग, साहसिकता, कलाकारिता, शूरता, दृढ़ता, तेजस्विता, शास्त्र-निपुणता, स्थिरता, लोक प्रियता, और बुद्धिमत्ता इत्यादि गुणों का होना परमावश्यक माना जाता है।

स्वभाव भेद की दृष्टि से नायक के चार भेद होते हैं—१ धीरोदात्त, २ धीर ललित, ३ धीर शांत, और ४ धीरोद्धत। धीरोदात्त नायक में उदारता प्रमुख रूप से होती है। वह अधिक क्षमाशील, विनयी, दृढ़व्रती, निरभिमानी, और हर्ष शोक में एक सम रहने वाला होता है। श्रीरामचन्द्र और युधिष्ठिर धीरोदात्त नायक

हैं। धीर ललित कलाविद् होता है। कोमल भावनाएँ मुख्य रूप से उसमें पाई जाती हैं। वह सुखान्वेषी और निश्चित मन वाला होता है। दुष्यंत इसका दृष्टांत है। धीर शांत में संतोष की भावना होती है। वह या तो ब्राह्मण, या वैश्य होता है। 'मालती माधव' का 'माधव' इसका दृष्टांत है। धीरोद्धत का गुण उसके नाम से ही स्पष्ट है। वह आत्म प्रशंसक, धृष्ठ, चपल, गर्विष्ट, छली, शूर और असहिष्णु होता है। गुण की अपेक्षा उसमें दोष अधिक होते हैं। भीम और मेघनाद इसके दृष्टांत हैं।

प्राचीन आचार्यों ने शृंगार और स्त्रियों के प्रति व्यवहार आदि को दृष्टि में रखकर नायक के भी चार भेद बताये हैं:—१ अनुकूल, २ दक्षिण, ३ शठ, और ४ धृष्ठ। अनुकूल नायक उसे कहते हैं, जो एक पत्नीव्रत होता है। दक्षिण इसके प्रतिकूल होता है। वह कई पत्नियाँ वाला होता है। नवीन पत्नी के प्रति उसका सर्वाधिक आकर्षण होता है, किन्तु शेष पत्नियों के प्रति भी उसका प्रेम पूर्ववत् बना रहता है। शठ गुप्त प्रेम का व्यसनी होता है। दिखावे के लिए वह एक पत्नी में अनुरक्त रहता है; किन्तु गुप्त रूप से अन्य नायिकाओं से भी उसका संबन्ध होता है। धृष्ट लज्जा हीन होता है। वह प्रगट रूप से शठ के कर्मों को कान्यान्वित करता है।

नाट्याचार्यों ने इन्हें भी तीन तीन भेदों में विभक्त किया है—१ उत्तम २ मध्यम, और ३ अधम। इनके भी तीन-तीन भेद बताए गए हैं—१ दिव्य, २ अदिव्य, और ३ दिव्यादिव्य। इस प्रकार नायक के कुल १४४ भेद होते हैं।

रूपक में नायक के अतिरित उसकी सहायता के लिए कुछ और भी पात्र होते हैं। जैसे प्रतिनायक और पीठ मर्द नायक के प्रति द्वन्दी को प्रतिनायक कहते हैं। पीठ मर्द उसे कहते हैं, जो प्रासंगिक कथा का नायक होता है। यह नायक का मित्र होता है। इनके अतिरिक्त नायक के कार्य-व्यापार में सहायता देने वाले और भी नायक होते हैं, जिनके छः भेद किये गये हैं:—१ शृंगार सहाय, २ अर्थ चिंता सहाय, ३ संवाद सहाय, ४ धर्म सहाय, ५ अंतःपुर सहाय और ६ दंड सहाय। शृंगार सहाय के तीन भेद हैं—१ विट् २ चेट और ३ विदूषक। विट् नायक का सेवक होता है। चेट उसका दास और विदूषक उसका मनोरंजनकारी होता है। अर्थ चिंता सहाय राजा होता है। दंड सहाय दुष्टों के विनाश में सहायता प्रदान करता है। धर्म सहाय तपस्वी और पुरोहित इत्यादि होते हैं। अंतःपुर सहाय हिजड़े होते हैं। संवाद सहाय दूत होते हैं।

कभी कभी पुरुष पात्र स्त्री का रूप धारण करके उसके समान ही हाव भाव और कोलमता से नाट्य करता है। ऐसे पुरुष पात्र को 'त्रिगूढ़' कहते हैं। चन्द्रावली के चतुर्थ अंक में श्री कृष्ण 'त्रिगूढ़' के दृष्टांत हैं। क्योंकि चतुर्थ अंक में उन्होंने 'योगिनी' का रूप धारण करके लास्य नृत्य किया है।

रूपक में नायक की भाँति नायिक का भी महत्त्व पूर्ण स्थान है। नाट्याचार्यों ने नायिका के भी कई भेद और उपभेद किये हैं। नायिका नायक की पत्नी को कहते

हैं। वह तीन प्रकार की होती है—१ स्वकीया २ परकीया. और ३ सामान्या। स्वकीया उसे कहते हैं, जो चरित्रनिष्ठ, और लज्जालु होती है। वह अपने पति को ही अपना सर्वस्व समझती है। परकीया उसे कहते हैं, जो दूसरे पुरुष से प्रेम करती है। सामान्य किसी एक से प्रेम नहीं करती। वह वेश्या होती है।

स्वकीया, परकीया, और सामान्या की प्रकृति और उसके गुणों के अनुसार अनेक भेद और उपभेद भी किए गये हैं।

रस— रस नाटक का तीसरा तत्त्व है। यह एक ऐसा तत्त्व है, जो रूपक में प्राण का संचार करता है। अतः रूपक के क्षेत्र में इसका अधिक महत्व है। नाट्याचार्यों ने इसकी परिभाषा इस प्रकार बताई है—स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव, और संचारी भावों से पुष्ट होकर अपनी परिपक्वावस्था को पहुँचता है, तब उसके रसास्वादन से सुहृद जनों, और रसिकों के हृदय में जो आनंद स्रोत उमड़ पड़ता है, उसे रस कहते हैं। रस को वास्तविक रूप में समझने के लिए भाव, विभाव, अनुभाव, और संचारी भाव का समझना अधिक आवश्यक है।

मनुष्य के मन में तरह तरह के विकार उत्पन्न होते हैं। मन के विकार को ही भाव कहते हैं। स्थायी भाव वह है, जो आदि से लेकर अन्त तक मन के भीतर बना रहता है। स्थायी भाव के अतिरिक्त मन में और भी भाव होते हैं, जो उठते, चलते, और विलीन होते रहते हैं। इन भावों को सञ्चारी अथवा व्यभिचारी भाव कहते हैं। इनकी संख्या तैंतीस है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, श्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिन्ता, त्रास, असूया, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, स्वप्न, निद्रा, विबोध, व्रीड़ा, अपस्मार, मति, आलस्य, आवेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य, और चपलता।

मन के भीतर जिनके द्वारा विशेष प्रकार के भाव जाग्रत होते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलंबन, और उद्दीपन। जिनके द्वारा स्थायी भाव जाग्रत होते हैं, उन्हें आलंबन विभाव, और जिनसे जाग्रत विभाव उद्दीप्त होते हैं, उन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं। जिसके हृदय में भाव जाग्रत होता है, वह आश्रय कहलाता है। जिसको देखने से भाव उत्थित होता है, उसका नाम आलम्बन है। भावों के उदय होने पर यदि आश्रय हृदय उनका वाह्य जगत में प्रदर्शन करता है, तो उसे अनुभाव कहते हैं। अनुभाव तीन प्रकार के होते हैं—१ मानसिक, २ कायिक, और ३ सात्त्विक। स्थायी भाव के कारण मन में उत्पन्न होने वाले विकार को मानसिक अनुभाव कहते हैं। मन में उत्पन्न अनुभूतियों का जब वाह्य प्रदर्शन किया जाता है, तब वह कायिक अनुभाव कहलाता है। मन की आनन्दमय स्थिति में उत्पन्न होने वाले अनुभावों को सत्त्विक अनुभाव कहते हैं।

स्थायी भावों से ही रसों की उत्पत्ति होती है। स्थायी भाव नौ होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, और

निर्वेद। प्रत्येक स्थायी भाव एक रस का जनक है। अतः रस भी नौ होते हैं, जो इस प्रकार हैं—१ शृंगार, २ हास्य, ३ करुण, ४ रौद्र, ५ वीर, ६ भयानक, ७ वीभत्स, ८ अद्‍भुत, और ९ शांत।

प्रेमियों के मन में संस्कार रूप से वर्तमान रति रसावस्था को पहुँच कर जब आस्वाद योग्यता को प्राप्त करता है, तब उसे शृंगार रस कहते हैं। शृङ्गार का स्थायी भाव रति है। यह दो प्रकार का होता है—विप्रलंभ और संयोग। विप्रलम्भ में वियोग और संयोग में संयोग की भावनाएँ होती हैं। जहाँ विकृत वेश भूषा, रूप, वाणी, और अंग भंगी आदि के देखने सुनने से हास्य स्थायी भाव परिपुष्ट हो, वहाँ हास्य रस होता है। हास इसका स्थायी भाव है। जहाँ उत्साह भाव का परिपोष हो, वहाँ वीर रस होता है। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। विचित्र वस्तुओं के देखने और सुनने से जब आश्चर्य का परिपोष होता है, तब तब अद्‍भुत रस की प्रतीति होती है। विस्मय इसका स्थायी भाव है। घृणित वस्तुओं के देखने या सुनने से जहां घृणा या जुगुप्सा का भाव परिपुष्ट हो, वहाँ वीभत्स रस होता है। जुगुप्सा अथवा घृणा इसका स्थायी भाव है। भयानक वस्तु के देखने वा सुनने से अथवा प्रबल शत्रु के विद्रोह आदि करने से जब हृदय में वर्तमान भय स्थायी भाव होकर परिपुष्ट होता है, तब भयानक रस उत्पन्न होता है। भय इसका स्थायी भाव है। जहाँ विरोधी दल की छेड़ खानी, अपमान अपकार, गुरुजन निन्दा, तथा देश और धर्म के अपमान आदि से प्रतिशोध की भावना जाग्रत होती है, वहाँ रौद्र रस होता है। इसका स्थायी भाव क्रोध है। इष्ट वस्तु की हानि, अनिष्ट वस्तु का लाभ, प्रेम पात्र का चिर वियोग, और अर्थ हानि आदि से जहाँ शोक भाव की परिपुष्ट होती है, वहाँ करुण रस होता है। शोक इसका स्थायी भाव है। जब तत्त्व ज्ञान द्वारा वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तब शांत रस की प्रतीति होती है। निर्वेद अथवा शम इसका स्थायी भाव है।

अभिनय—नाटक में नाटकीय वस्तु अंतर्निहित रहती है। अभिनय एक ऐसी कला है, जिसके द्वारा नाटकीय वस्तु की अभिव्यक्ति होती है; दूसरे शब्दों में अभिनय उस साधन को कहते हैं, जिसके द्वारा नाटकीय वस्तु वास्तविक अर्थाभिव्यक्ति की ओर पहुँचाई जाती है। प्राचीन आचार्यों ने अभिनय के चार प्रकार बताए हैं—१ आंगिक, २ वाचिक, ३ आहार्य, और ४ सात्विक। आंगिक अभिनय उसे कहते हैं, जो अंगों की भंगिमा के द्वारा संपादित किया जाता है। वाणी के द्वारा पूर्ण किया जाने वाला अभिनय वाचिक कहा जाता है। वेश-भूषा के द्वारा प्रति पाद्य अभिनय का नाम आहार्य है। स्तम्भ, रोमांच, कंप, स्वेद, अश्रु, और हास्य इत्यादि अवस्थाओं वा अनुकरण सात्विक अभिनय है।

वृत्ति—इसका शब्दिक अर्थ बरताव अथवा ढंग है। रूपक में पात्र इत्यादि जो विशेष बरताव, अथवा काम करते हैं, उनके उन्हीं बरतावों अथवा कामों के करने के ढंग को वृत्ति कहते हैं। नाट्य क्षेत्र में वृत्ति का अधिक महत्त्व पूर्ण स्थान

है। वृत्ति के ही द्वारा रूपक में रस उत्पन्न होता है। साहित्य दर्पण के टीकाकार के कथनानुसार वृत्ति ही रसास्वाद का प्रमुख कारण है। भरत मुनि ने वृत्तियों को नाट्य की 'माताओं' के नाम से सम्बोधित किया है। वृत्तियाँ चार प्रकार की होती हैं—१ भारती, २ सात्वती, ३ आरभटी, और ४ कौशिकी। भारती वृत्ति के सम्बन्ध में लोगों के भिन्न भिन्न मत हैं। पंडित राज जगन्नाथ के कथनानुसार भारती वृत्ति में सभी रस आ सकते। भरत मुनि इसमें केवल करुण और अद्भुत का संचार मानते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी केवल वीभत्स रस पूर्ण स्थलों में ही भारती वृत्ति का व्यवहार होना मानते हैं। आचार्यों के कथनानुसार इसकी उत्पत्ति ऋग्वेद से हुई है। इसमें ऐसी बातें होती हैं, जो मन-मुग्ध कर और श्रवण-सुखद होती हैं। इसकी भाषा भी परिमार्जित होती है। इसका सम्बन्ध नटों अथवा भारती से होता है। इसीलिए इसको भारती वृत्ति कहते हैं। इसमें स्त्रियाँ वर्जित रहती हैं। प्रकोचना, वीथी, प्रहसन, और आमुख इसके चार भेद हैं। सात्वती की उत्पत्ति यजुर्वेद से है। इसमें शौर्य, दया, दाक्षिण्य, और दान इत्यादि सात्विक भावों का वर्णन विशेष रूप से रहता है। वीर रस इसका प्रमुख रस है। पर रौद्र और अद्-भुत का भी कुछ कुछ पुट रहता है। आंशिक रूप में शृंगार भी पाया जाता है। अधिकतर ऐसे ही कार्यों की अधिकता रहती है जो वीरोचित होते हैं। उत्थापक, सांघात्य, और परिवर्तक इसके चार भेद है। आरभटी का सम्बन्ध सामवेद से है, इसमें युद्ध, वध, क्रोध, माया, इन्द्रजाल, मारपीट, का छल कपट, और संघर्ष इत्यादि बातें दिखाई जाती हैं। इसका रस रौद्र है, वस्तूत्था पन, संफेट, संक्षिप्त, और अवपात इसके चार भेद हैं। कैशिकी का सम्बन्ध अथर्ववेद से है। इसमें नृत्य, गीत, शृंगार, और हास्य, और रति की अधिकता है। स्त्रियों के व्यापार, और उनकी संख्या भी इसमें अधिक होती हैं। इसमें अधिकतर विलास वर्द्धक और आनन्ददायक व्यापारों का ही अधिक वर्णन किया जाता है। शृंगार और हास्य इसका मुख्य रस है। नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट, और नर्म गर्भ इसके चार भेद हैं। नर्म में प्रिय को प्रसन्न करने के निमित्त हास परिहास जनिक ऐसी क्रीड़ाएँ होती हैं, जो शिष्ट होती हैं, और जिनसे प्रिय के हृदय को दुःख पहुँचने की आशंका नहीं होती। नर्म स्फूर्ज उसे कहते हैं, जब नायक नायिकाओं का प्रथम मिलन सुख और प्रेम की स्थिति में होकर अन्त भय की दशा में होता है। जहाँ कहीं ऐसा किंचित् रस उत्पन्न हो जाता है, जिसके उद्रेक का कारण कुछ थोड़े से भाव हों, वह नर्म स्फोट कहलाता है। नायक के गुप्त व्यवहार को नर्म गर्भ कहते हैं।

रूपक का प्रारम्भ—'रूपक' जिस स्थान में अभिनीत किया जाता है, उसे रंगशाला कहते हैं; और जिस विशेष स्थल पर अभिनीत किया जाता है, उसे रंग मंच कहते हैं। रंग मंच पर नाटकीय कथा को अभिनीत करने के पूर्व प्राचीन आचार्यों ने कुछ कृत्यों का विधान स्थापित किया वे इन्हें पूर्व रंग कहते हैं। पूर्व रंग के कई अंग होते हैं, जिनमें सूत्र धार, नांदी, रंग द्वार, स्थापक और

मारिष का मुख्य स्थान है। नाटक के प्रधान परिचालक को सूत्रधार कहते हैं। सूत्रधार अधिक दक्ष, कुशल और विद्वान् होता है। क्योंकि नाटक के संचालन का सूत्र उसी के हाथ में होता है। इसीलिए उसे सूत्रधार कहते हैं। सर्व प्रथम नगाड़ा बजा कर नाटकारंभ की सूचना दी जाती है। इसके वाद वादन और गायक रंग-मंच पर पधारते हैं, जो अपने वाद्य यंत्रों के स्वर-ताल को ठीक करते हैं। वाद्य-ध्वनि आरंभ होने के साथ ही साथ सूत्रधार उपस्थित होता है और रंग मंच के ऊपर पुष्प विखेरता है। उसके साथ ही उसका एक भृत्य भी रहता है, जो जल पात्र और इन्द्र ध्वजा लिए रहता है। सूत्रधार अपने को जल से पवित्र करता है, और इन्द्र ध्वजा धारण करके टहलता हुआ स्तुति पाठ करता है। बस स्तुति पाठ को नांदी कहते हैं। इसके पश्चात् नाटकारंभ कृत्य होता है। इसे रंग द्वारा कहते हैं। रंग द्वार नामक कृत्य में सूत्रधार इन्द्रध्वजा की वंदना करता है। फिर शिव-पार्वती को प्रसन्न करने के लिए नृत्य किया जाता है। तदनंतर सूत्रधार विदूषक से बातें करता हुआ प्रस्थान करता है। इसके पश्चात् नाटक की वास्तविकता को सूचित करने के लिए स्थापक उपस्थित होता है। वह देवताओं की वन्दना के साथ नाटक प्रारंभ कराता है। मारिष सूत्रधार का पार्श्ववर्ती होता है।

हिन्दी नाट्यकला का इतिहास

हिन्दी-साहित्य में नाट्यकला का प्रारंभ कब से हुआ, इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर जानने के लिए हमें हिन्दी-साहित्य की प्रगति, और उसके क्रम विकास पर ध्यान देना होगा! हिन्दी-साहित्य के विकास को दृष्टि में रखकर साहित्यज्ञ उसे चार कालों में विभक्त किया है—वीर गाथा काल, भक्तिकाल रीतिकाल और अधुनिक काल, इन्हीं चारों कालों के समय-चक्र में प्रवेश करके हमें हिन्दी नाटकों के जन्म का पता लगाकर उसके विकास पर विहंगम दृष्टि डाल दी है।

हिन्दी इतिहास का उदय वीर गाथा काल से होता है। वीरगाथा काल का समय सं० १०५० से सं० १३७५ तक माना जाता है। वीरगाथा काल से पूर्व संस्कृत और प्राकृत का जोर था। ईसा की सातवीं शताब्दी में, हर्षवर्द्धन के शासनकाल में संस्कृत का अभ्युदयकाल समाप्त हो गया था। देश की राजनीतिक परिस्थिति में अस्त व्यस्तता उत्पन्न हो चली थी। हर्ष वर्द्धन के शासन की समाप्ति के पश्चात् देश छोटे छोटे स्वतंत्र राज्यो में विभक्त हो उठा था। इन राज्यों में, पारस्परिक द्वेष और कलह की अग्नि बराबर प्रज्वलित रहा करती थी। देश की इस अनैक्यता से लाभ उठा कर, इसी समय मुसलमानों के आक्रमण भी हुए। मुसलमानों के आक्रमण के कारण देश की स्थिति और भी अधिक विपन्न हो गई; फल स्वरूप मुसलमानों का आधिपत्य और आतंक चारों ओर स्थापित हो गया।

देश की इस राजनीतिक परिस्थिति का प्रभाव साहित्य के उपर भी पड़ा, जो अधिक स्वाभाविक ही था। प्रकृत और संस्कृत का यह पतन काल था। हिन्दी भाषा

डिंगल, और चारणों की बोली में जन्म धारण कर रही थी। हिन्दी का उस समय जो स्वरूप था, वह चारणों तक ही सीमित था। हिन्दी भाषा का साहित्य, उस समय अपने शैशव में प्रवेश कर रहा था। राजपूत राजाओं के दरबारों में, चरण कवियों के द्वारा वह सृजित किया जा रहा था। चारण कवि अपने आश्रय दाताओं के वीरता पूर्ण कार्यों की प्रशंसा किया करते थे। कभी कभी वे युद्ध-स्थलों में आकर भी उत्साह बढ़ाया करते थे।

वीर गाथा काल में साहित्य के नाम पर जो कुछ सृजित किया गया, वह गीत और काव्य में चन्द्र बरदाई का पृथ्वीराज रासो इस काल का एक प्रधान काव्य है। नाट्यकला की दृष्टि से इस काल का कुछ भी महत्व नहीं है। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में इस काल में नाटक और उसकी कला की किसी प्रकार का कुछ भी प्रोत्साहन प्राप्त नहीं हुआ।

वीर गाथा काल के पश्चात् उस युग का आविर्भाव हुआ, जो अपनी विभूतियों के कारण भक्तिकाल के नाम से विख्यात है। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में भक्तिकाल सं० १३७५ से सं० १७०० तक माना जाता है। भक्तिकाल में राजनीतिक अस्त-व्यता पूर्ण वेश पर थी। मुसलमानों के आक्रमण की आँधी देश के कोने-कोने में फैल गई थी। हिन्दू जनता एक प्रकार से निराश्रित, और निरावलंब बन गई थी। इससे हिन्दू जनता के भीतर नैराश्य, और दुःख की भावना उमड़ पड़ी थी। इसका परिणाम यह हुआ, कि जनता ईश्वरोन्मुख हो उठी, और उसमें भक्ति का संचार हुआ। परिणाम स्वरूप हिन्दी साहित्य में भक्ति संबंधी रचनाओं की बाढ़ सी आ गई। कबीर, जायसी, सूर और गोस्वामी तुलसीदास जी इसी काल के अमर कवि हैं। इसी काल में सुप्रसिद्ध महाकाव्य श्रीराम चरित मानस की रचना हुई; किन्तु नाटक की ओर फिर भी किसी का ध्यान न गया। यद्यपि श्रीरामचरितमानस में नाटक के तत्त्व स्पष्ट रूप से पाए जाते हैं, किन्तु यह तो सत्य ही है, कि इस स्वर्णकाल में भी किसी स्वतंत्र नाटक की रचना नहीं की गई।

भक्तिकाल के पश्चात रीतिकाल सामने उपस्थित हुआ। रीतिकाल को शृङ्गार-काल भी कहते हैं। रीतिकाल बहुत कुछ शांति का युग था। आक्रमणकारी मुसल-मानों की युद्ध लिप्सा इस युग में शांत हो चुकी थी। मुगलसम्राटों की छाया में, देश में शान्ति की स्थापना की जा रही थी। राजाओं और मुगलशासकों के दरबारों में, विलास प्रियता डोल रही थी। दरबारों में कवियों और, शायरों का रंग जम रहा था। राजाओं और विलास प्रिय शासकों को प्रसन्न करने के लिए कामोद्दीपक रच-नाओं की सृष्टि की जा रही थी। इस युग की साहित्यिक विशेषता शृङ्गारिक रचनाओं तक ही सीमित है। इसमें संदेह नहीं, कि बिहारी, मतिराम, और देव इत्यादि महाकवि इसी युग में उत्पन्न हुए, और उनके द्वारा साहित्य के एक विशेष अंग-शृङ्गार की उन्नति अभूत पूर्व हुई, पर फिर भी नाट्य रचना की ओर किसी का ध्यान आकर्षित न हुआ। मुगल शासकों के द्वारा संगीत, और चित्रकला इत्यादि ललित

कलाओं को प्रश्रय अवश्य दिया, किन्तु नाट्यकला को किसी प्रकार का प्रोत्साहन प्राप्त न हुआ। उर्दू के क्षेत्र में भी, जो अभी अपने शैशव काल में थी, नाट्य रचना की ओर से पूर्ण उदासीनता थी।

किन्तु नाटक के तत्त्व जनता के भीतर विद्यमान थे। संस्कृत साहित्य में नाटकों की रचना तो हो ही चुकी थी, और इस काल में भी किसी न किसी रूप में उस परंपरा की रक्षा हो रही थी। हिन्दी के रीतिकाल में ही, मैथिली के कर्म संस्कृत प्रेमियों ने संस्कृत में नाटकों की रचना की, जिनमें विद्यापति ठाकुर, लालझा, भानुनाथ, और हर्षनाथ झा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जनता के भीतर लीलाओ के रूप में हीन कोटि के रूपकों का भी प्रचार था; पर साहित्यिक दृष्टि से यह युग भी नाट्य रचना की ओर से, पूर्ण उदास ही रहा। इस युग मे भी, नाट्य रचना की ओर किसी का ध्यान न गया; फलतः यह युग भी नाट्यकला से अछूता ही रह गया।

रीतिकाल के पश्चात नवीन काल का उदय हुआ, जिसे आधुनिक काल कहते हैं। आधुनिक काल का उदय सं० १६०० से माना जाता है। इस युग में देश की राजनीतिक परिस्थिति ने पुनः करवट बदली। इस युग में मुसलमानों के शासन का अंत हुआ, और उसका स्थान अँगरेजों ने ग्रहण किया। ज्यों ज्यों अँगरेजों का प्रभाव देश में बढ़ने लगा, त्यों त्यों अँगरेजी भाषा और पाश्चात्य संस्कृति पर भी देश की जनता के ऊपर छाने लगा। अँगरेजी शिक्षा का शनैः शनैः प्रचार होने लगा; फल स्वरूप अँगरेजी साहित्य का मनन और अनुशीलन किया जाने लगा। अँगरेजी साहित्य और सभ्यता के प्रचार के कारण देश मे एक नई भावना और चेतना का उदय हुआ। कहना न होगा, कि अँगरेजी साहित्य में नाटकों की रचना बहुत पहले हो चुकी थी। अतः जब प्रांतीय भाषाएँ अँगरेजी के संपर्क में आईं, तब उनमें भी नाटकों की रचना की जाने लगी। सर्व प्रथम मराठी, और गुजराती में नाटकों की रचना की गई। उसके पश्चात् 'बँगला' में नाटक लिखे गए। 'बङ्गला' से नाट्य-रचना की प्रवृत्ति ने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया और हिन्दी में भी नाटकों की रचना की जाने लगी। सर्व प्रथम हिन्दी साहित्य में जो नाटक लिखे गए, वे बँगला के नाटकों के अनुवाद थे। इसके पश्चात संस्कृत के नाटकों का अनुवाद भी हिन्दी में हुआ। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में नाट्य कला, का जन्म हुआ, और समय के साथ ही साथ वह विकसित होने लगी। आज हिन्दी साहित्य में नाट्यकला का भी अपना विशिष्ट क्षेत्र है, और उसमें एक से एक अधिक महत्व पूर्ण मौलिक रचनाएँ हैं।

कुछ लोग हिन्दी नाटकों का जन्म रामलीलाओं और रासलीलाओं से ही मानते हैं, पर यह लोगों की भ्रांति है। रासलीलाओं और रामलीलाओं से हिन्दी नाट्यकला का प्रोत्साहन अवश्य प्राप्त हुआ; पर यह निर्विवाद सत्य है कि उसका जन्म अँगरेजी शिक्षा और सभ्यता के प्रचार और प्रसार के ही कारण हुआ है। हिन्दी नाटकों

के जन्म में अँगरेजी साहित्य की नवीन चेतना है। अँगरेजी साहित्य की प्रेरणा से हिन्दी नाटकों का जन्म तो हुआ; पर उसके विकास के मार्ग में कई बाधाएँ सामने थीं; जिनसे कुछ दिनों तक हिन्दी नाट्य कला का विकास यथोचित रूप में न हो सका। हिन्दी नाटकों के विकास में सबसे बड़ी बाधा, रंग मंचों का अभाव था। संस्कृत नाटकों के उत्थान युग में, देश के भीतर जो प्रेक्षागृह बने थे, वे मुसलिम आक्रमणों से ध्वस्त हो चुके थे। अँगरेजों के आगमन पर पुनः प्रेक्षागृह स्थापित किये गए। सर्व प्रथम कलकत्ते में एक प्रेक्षागृह का निर्माण हुआ। इसके पश्चात वे बम्बई, और कलकत्ते में कई प्रेक्षागृहों का निर्माण हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ने कलकत्ता के प्रेक्षागृहों का अवलोकन किया था। कलकत्ता के प्रेक्षागृहों को देख कर हिन्दी की विपन्नावस्था पर उन्हें अधिक दुख हुआ था; और उन्होंने उसी से प्रेरित होकर हिन्दी के क्षेत्र के भीतर रंगशालाएँ स्थापित कराने का प्रयत्न किया था।

द्वितीय बाधा, जो हिन्दी नाटकों के विकास मार्ग में थी, वह योग्य और सदाचारी अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों का अभाव था। यह बात नहीं थी, कि समाज में ऐसे लोगों का अभाव था; किन्तु सच बात तो यह है, कि उस समय समाज की स्थिति ऐसी थी, कि उच्च कुल और उच्च विचार के लोग रंग मंचों पर आना हीन कोटि का काम समझते थे। फलतः हीन कोटि के ही पात्र रामलीलाओं और रासलीलाओं में अभिनय कला का प्रदर्शन करते थे। उच्च कोटि के अभिनेताओं और अभिनेत्रियों के अभाव के ही कारण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पूर्व किसी साहित्यिक नाटक का अभिनय नहीं हुआ। हिन्दी मे जब नाटकों का जन्म हुआ, तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने स्वयं अग्रसर होकर, इस समाज की इस संकीर्णता को दूर किया। उन्होंने स्वयं कई नाटकों में पात्र के रूप में अभिनय किया। इस प्रकार उन्होंने लोगों को सक्रिय रूप से प्रोत्साहन प्रदान किया। इन्हीं दिनों पारसी कंपनियों का जन्म हुआ। पारसी कंपनियों में भी यद्यपि हीन कोटि के ही पात्रों की अधिकता थी। पर उनसे लोगों के मन में आकर्षण अवश्य जाग्रत हुआ; और लोग शनैः शनैः अभिनय कला की ओर आकर्षित होने लगे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के पूर्व हिन्दी नाटकों का जन्म हो चुका था। उनके जन्म के पूर्व संस्कृत के नाटक 'शकुन्तला' का अनुवाद हिन्दी में हो चुका था। पर उन नाटकों का नाट्यकला की दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं है। 'शकुंतला' अवश्य एक ऐसा नाटक था, जो सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है। पर वह अनुवाद था। वास्तव में हिन्दी नाटकों का विकास भारतेन्दु काल से ही प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी को ही हिन्दी नाटकों के प्रवर्तन विकास और अभ्युदय का गौरव प्राप्त है। हम हिन्दी नाटकों के विकास क्रम को ध्यान में रख कर उसके विकास-इतिहास को पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं

(१) भारतेन्दु काल के पूर्व

(२) भारतेन्दु काल

(३) भारतेन्दु काल के उत्तर [१९०५—१९१५]
(४) प्रसाद काल [१९१५—१९३०]
(५) आधुनिक काल [१९३४— ...]

भारतेन्दु काल के पूर्व का समय १६४३ से लेकर १८६६ तक माना जाता है। इस काल का महत्व इसलिए है, कि हिन्दी नाट्यकला ने इसी काल में जन्म धारण किया। इस काल में मौलिक, और अनूदित-दोनों ही प्रकार के नाटकों का सृजन हुआ। इस काल की अनूदित रचनाओं में बनारसीदास जैन का समयसार, और हृदय राम उपनाम 'राम' का हनुमन्नाटक का महत्वपूर्ण स्थान है, मौलिक नाटकों में प्राणचन्द का रामायण महानाटक. और कृशा जीवन. तथा लछीराम द्वारा रचित करुणा भरण का नाम उल्लेखनीय है। किन्तु इन नाटकों में नाटकीय तत्त्वों का अभाव है। नाट्यकला की दृष्टि से उत्कृष्ट इस काल के अनूदित और मौलिक नाटकों का नाम प्रबन्ध चन्द्रोदय, आनन्द रघुनन्दन, और शकुन्तला है। प्रबन्ध चन्द्रोदय संस्कृत नाटक है। इसका अनुवाक सन् १६४३ के लगभग जोधपुर नरेश स्वर्गीय महाराज जसवन्तसिंह जी ने किया था। आनन्द रघुनन्दन मौलिक कृति है। हिन्दी साहित्य का यही प्रथम मौलिक नाटक है। इसकी रचना सन् १७०६ में रीवाँ नरेश स्वर्गीय शिवसिंह जू द्वारा हुई थी। शकुन्तला संस्कृत का नाटक है, इसका अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह जी ने सन् १८६१ में किया था, इसके पूर्व सन् १८४१ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के पिता गोपालचन्द्र जी ने नहुष की रचना की थी।

इन नाटकों में संस्कृत नाट्य-शैली का अनुकरण किया गया था। अतः आधुनिक नाट्यकला की दृष्टि से इनका स्थान महत्व पूर्ण नहीं माना जा सकता। इनमें उन तत्त्वों का अभाव है, जो आज नाटकीय कला के प्राण कहे जाते हैं।

भारतेन्दु काल हिन्दी नाटकों के अभ्युदय का प्रमुख काल है, वास्तव में नाट्यकला की दृष्टि इसी काल में हिन्दी नाटकों का जन्म हुआ, और इसी काल में उनका चरण विकास के क्षेत्र की ओर भी अग्रसर हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ही हिन्दी में नाटकों के जन्मदाता हैं। सर्व प्रथम उन्हीं के द्वारा ऐसे नाटकों का निर्माण हुआ, जो युग की भावनाओं को प्रगट करने के साथ ही साथ नाट्यकला की दृष्टि से भी सर्वोत्तम कहे जा सकते हैं। उन्होंने जब बँगला और अँगरेजी के नाटकों का अध्ययन किया, तब उन्हें हिन्दी में नाटकों का अभाव मिलने लगा। उन्होंने बँगला, और अँगरेजी के नाटकों से प्रभावित होकर नाटकों का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। नाटकों का निर्माण करने के साथ ही साथ उन्होंने रंग मंचों की भी व्यवस्था की। उन्होंने स्वयं पात्र के रूप में अभिनय किया। इस प्रकार उन्होंने नाटकों की रचना करने के साथ ही साथ अभिनय कला को भी प्रोत्साहन प्रदान किया।

भारतेन्दु जी के नाटक दो प्रकार के हैं—मौलिक, और अनूदित। भारतेन्दु

जी के मौलिक नाटकों में सत्य हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, और नीलदेवी का प्रमुख स्थान है। अनूदित नाटकों में मुद्राराक्षस सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के नाटकों पर नवीनता की छाप है। पुराणों और इतिहासों पर उनके नाटक आधारित तो हैं हीं, राजनीति, सामाजिकता, धार्मिकता और आर्थिक समस्याओं का भी उनमें चित्रण हुआ है। अपनी रचनाओं में उन्होंने उदारता, समता, और प्रेम की भावनाओं को अधिक महत्व दिया है। अपने नाटकों में वे एक समन्यवादी से प्रतीत हैं। उन्होंने उदारता को केन्द्र विन्दु मान कर विभिन्न विषम परिस्थितियों को एकता करने के सूत्र में ग्रथित करने का प्रयत्न किया है।

विकास और उत्थान की दृष्टि से भारतेन्दु काल अधिक महत्व पूर्ण है। भारतेन्दु काल में कई उन्नत माना नाटककारों का जन्म हुआ; और उनके द्वारा नाटकों का प्रणयन भी हुआ। भारतेन्दु काल को जिन नाटककारों ने अपनी रचनाओं से गौरवान्वित बनाने का प्रयत्न किया है, उनमें श्री निवासदास, बद्रीनारायण चौधरी, प्रताप नारायण मिश्र, राधाकृष्णदास, केशवराम भट्ट, हरिऔध, और राधाचरण गोस्वामी इत्यादि का मुख्य स्थान है। श्री निवासदास, बद्रीनारायण चौधरी, प्रताप नारायण मिश्र, और केशव राम भट्ट उनके समकालीन थे। यद्यपि भारतेन्दु के हरिश्चन्द्र के समकालीन कलाकारों के द्वारा उत्कृष्ट नाटकों की रचना नहीं हो सकी हैं, पर इसमें सन्देह नहीं, कि उन्होंने भारतेन्दु जी की नाट्य परम्परा को अग्रसर करने में प्रशंसनीय सहायता प्रदान की। इस युग की रचनाओं में 'हरिऔध' जी के 'प्रद्युम्न विजय' और 'रुक्मिणी परिणय' का महत्व पूर्ण स्थान है। राधाचरण गोस्वामी का 'श्री दामा' भी इस युग की श्रेष्ठ कृति है।

भारतेन्दु काल के नाटकों को सुविधा की दृष्टि से हम निम्मांकित कक्षाओं में विभक्त करते हैं—सामाजिक, प्रेम प्रधान, देश प्रेम सम्बन्धी, प्रतीक वादी, प्रहसन, और अनूदित। सामाजिक रचनाओं में पाखण्ड विडंबन, और 'दुखिःनी वाला' का महत्व पूर्ण स्थान है। इस काल में जो सामाजिक नाटक लिखे गए, वे बाल विवाह, वृद्ध विवाह, पाखंड, और स्त्री जीवन की समस्याओं पर आधारित हैं, इन नाटकों में नाटक के तत्त्वों का विकास अल्पांश में ही पाया जाता है, पर इन पर नवीन युग के विचारों की छाप है। नाट्यकला की दृष्टि से अधिक महत्व पूर्ण न होते हुए भी विचारों की दृष्टि से वे अधिक उपयोगी हैं।

भारतेन्दु काल में प्रेम प्रधान नाटकों की रचना मुख्य रूप से हुई है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी स्वयं प्रेम मार्गी थे, उनकी रचनाओं में प्रेम के तत्त्व स्पष्ट रूप पाये जाते हैं। नाट्य-कला के क्षेत्र में भारतेन्दु जी ही प्रेम पंथ के प्रवर्तक हैं। उनके 'विद्या सुन्दर' नाटक के प्रेम के तत्त्वों का सुन्दर विकास मिलता है। 'चन्द्रावली' नाटिका भी परमोज्वल प्रेम का सुन्दर दृष्टांत है। श्री निवासदास श्री 'रणधीर-मन मोहिनी में भी प्रेम की भावनाएँ छलकती हुई मिलती हैं। प्रेम प्रधान नाटकों में

(३) भारतेन्दु काल के उत्तर [१६०५—१६१५]
(४) प्रसाद काल [१६१५—१६३०]
(५) आधुनिक काल [१६३४— ...]

भारतेन्दु काल के पूर्व का समय १६४३ से लेकर १८६६ तक माना जाता है। इस काल का महत्व इसलिए है, कि हिन्दी नाट्यकला ने इसी काल में जन्म धारण किया। इस काल में मौलिक, और अनूदित-दोनों ही प्रकार के नाटकों का सृजन हुआ। इस काल की अनूदित रचनाओं में बनारसीदास जैन का समयसार, और हृदय राम उपनाम 'राम' का हनुमन्नाटक का महत्वपूर्ण स्थान है, मौलिक नाटकों में प्राणचन्द का रामायण महानाटक. और कृशा जीवन. तथा लछीराम द्वारा रचित करुणा भरण का नाम उल्लेखनीय है। किन्तु इन नाटकों में नाटकीय तत्त्वों का अभाव है। नाट्यकला की दृष्टि से उत्कृष्ट इस काल के अनूदित और मौलिक नाटकों का नाम प्रबन्ध चन्द्रोदय, आनन्द रघुनन्दन, और शकुन्तला है। प्रबन्ध चन्द्रोदय संस्कृत नाटक है। इसका अनुवाक सन् १६४३ के लगभग जोधपुर नरेश स्वर्गीय महाराज जसवन्तसिंह जी ने किया था। आनन्द रघुनन्दन मौलिक कृति है। हिन्दी साहित्य का यही प्रथम मौलिक नाटक है। इसकी रचना सन् १७०६ में रीवाँ नरेश स्वर्गीय शिवसिंह जू द्वारा हुई थी। शकुन्तला संस्कृत का नाटक है, इसका अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह जी ने सन् १८६१ में किया था, इसके पूर्व सन् १८४१ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के पिता गोपालचन्द्र जी ने नहुष की रचना की थी।

इन नाटकों में संस्कृत नाट्य-शैली का अनुकरण किया गया था। अतः आधुनिक नाट्यकला की दृष्टि से इनका स्थान महत्व पूर्ण नहीं माना जा सकता। इनमें उन तत्त्वों का अभाव है, जो आज नाटकीय कला के प्राण कहे जाते हैं।

भारतेन्दु काल हिन्दी नाटकों के अभ्युदय का प्रमुख काल है, वास्तव में नाट्यकला की दृष्टि इसी काल में हिन्दी नाटकों का जन्म हुआ, और इसी काल में उनका चरण विकास के क्षेत्र की ओर भी अग्रसर हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ही हिन्दी में नाटकों के जन्मदाता हैं। सर्व प्रथम उन्हीं के द्वारा ऐसे नाटकों का निर्माण हुआ, जो युग की भावनाओं को प्रगट करने के साथ ही साथ नाट्यकला की दृष्टि से भी सर्वोत्तम कहे जा सकते हैं। उन्होंने जब बँगला और अँगरेजी के नाटकों का अध्ययन किया, तब उन्हें हिन्दी में नाटकों का अभाव मिलने लगा। उन्होंने बँगला, और अँगरेजी के नाटकों से प्रभावित होकर नाटकों का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। नाटकों का निर्माण करने के साथ ही साथ उन्होंने रंग मंचों की भी व्यवस्था की। उन्होंने स्वयं पात्र के रूप में अभिनय किया। इस प्रकार उन्होंने नाटकों की रचना करने के साथ ही साथ अभिनय कला को भी प्रोत्साहन प्रदान किया।

भारतेन्दु जी के नाटक दो प्रकार के हैं—मौलिक, और अनूदित। भारतेन्दु

जी के मौलिक नाटकों में सत्य हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, और नीलदेवी का प्रमुख स्थान है। अनूदित नाटकों में मुद्राराक्षस सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के नाटकों पर नवीनता की छाप है। पुराणों और इतिहासों पर उनके नाटक आधारित तो हैं हीं, राजनीति, सामाजिकता, धार्मिकता और आर्थिक समस्याओं का भी उनमें चित्रण हुआ है। अपनी रचनाओं में उन्होंने उदारता, समता, और प्रेम की भावनाओं को अधिक महत्व दिया है। अपने नाटकों में वे एक समन्यवादी से प्रतीत हैं। उन्होंने उदारता को केन्द्र विन्दु मान कर विभिन्न विषम परिस्थितियों को एकता करने के सूत्र में ग्रथित करने का प्रयत्न किया है।

विकास और उत्थान की दृष्टि से भारतेन्दु काल अधिक महत्व पूर्ण है। भारतेन्दु काल में कई उन्नत मना नाटककारों का जन्म हुआ; और उनके द्वारा नाटकों का प्रणयन भी हुआ। भारतेन्दु काल को जिन नाटककारों ने अपनी रचनाओं से गौरवान्वित बनाने का प्रयत्न किया है, उनमें श्री निवासदास, बद्रीनारायण चौधरी, प्रताप नारायेण मिश्र, राधाकृष्णदास, केशवराम भट्ट, हरिऔध, और राधाचरण गोस्वामी इत्यादि का मुख्य स्थान है। श्री निवासदास, बद्रीनारायण चौधरी, प्रताप नारायण मिश्र, और केशव राम भट्ट उनके समकालीन थे। यद्यपि भारतेन्दु के हरिश्चन्द्र के समकालीन कलाकारों के द्वारा उत्कृष्ट नाटकों की रचना नहीं हो सकी हैं, पर इसमें सन्देह नहीं, कि उन्होंने भारतेन्दु जी की नाट्य परम्परा को अग्रसर करने में प्रशंसनीय सहायता प्रदान की। इस युग की रचनाओं में 'हरिऔध' जी के 'प्रद्युम्न विजय' और 'रुक्मिणी परिणय' का महत्व पूर्ण स्थान है। राधाचरण गोस्वामी का 'श्री दाया' भी इस युग की श्रेष्ठ कृति है।

भारतेन्दु काल के नाटकों को सुविधा की दृष्टि से हम निम्मांकित कक्षाओं में विभक्त करते हैं—सामाजिक, प्रेम प्रधान, देश प्रेम सम्बन्धी, प्रतीक वादी, प्रहसन, और अनूदित। सामाजिक रचनाओं में पाखण्ड विडंबन, और 'दुखिःनी वाला' का महत्व पूर्ण स्थान है। इस काल में जो सामाजिक नाटक लिखे गए, वे बाल विवाह, वृद्ध विवाह, पाखंड, और स्त्री जीवन की समस्याओं पर आधारित हैं, इन नाटकों में नाटक के तत्त्वों का विकास अल्पांश में ही पाया जाता है, पर इन पर नवीन युग के विचारों की छाप है। नाट्यकला की दृष्टि से अधिक महत्व पूर्ण न होते हुए भी विचारों की दृष्टि से वे अधिक उपयोगी हैं।

भारतेन्दु काल में प्रेम प्रधान नाटकों की रचना मुख्य रूप से हुई है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी स्वयं प्रेम मार्गी थे, उनकी रचनाओं में प्रेम के तत्त्व स्पष्ट रूप पाये जाते हैं। नाट्य-कला के क्षेत्र में भारतेन्दु जी ही प्रेम पंथ के प्रवर्तक हैं। उनके 'विद्या सुन्दर' नाटक के प्रेम के तत्त्वों का सुन्दर विकास मिलता है। 'चन्द्रावली' नाटिका भी परमोज्वल प्रेम का सुन्दर दृष्टांत है। श्री निवासदास श्री 'रणधीर-मन मोहिनी में भी प्रेम की भावनाएँ छलकती हुई मिलती हैं। प्रेम प्रधान नाटकों में

सुखांत और दुखांत दोनों ही प्रकार के नाटक मिलते हैं। 'विद्या सुन्दर' और 'रणधीर-मन मोहिनी' सुखांत है। दुखांत नाटकों में अधिकतर आकस्मिक घटनाओं का ही आश्रय लिया गया है।

देश प्रेम सम्बन्धी नाटकों में 'भारत दुर्दशा' का मुख्य स्थान है। भारतेन्दु जी ने अपने कई नाटकों में देश-प्रेम सम्बन्धी भावनाओं का चित्रण किया है। उनकी इस प्रकार की भावनाओं ने साहित्य के अन्तर्गत एक नई दिशा का निर्माण किया है। प्रतीक वादी रचनाओं में कमला चरण का 'अद्‌भुत नाटक' उल्लेखनीय है, जो सर्व प्रकार से मौलिक है। भारतेन्दु काल में कई ऐसे कलाकार हुए हैं, जिन्होंने प्रहसनों, और व्यंग्य साहित्य की सुन्दरता के साथ रचना की है। भारतेन्दु ने स्वयं प्रहसन साहित्य की रचना की है। अधिकतर प्रहसनों की रचना सामाजिक विषयों पर हुई है। प्रहसनों में देवकी नन्दन का 'एक-एक के तीन तीन' बालकृष्ण भट्ट का 'जैसा काम वैसा परिणाम', प्रताप नारायण मिश्र का 'कलि कौतुक रूपक', किशोरी लाल गोस्वामी का 'चौपट चपेट' और विजयानन्द: का 'अन्धेर नगरी' अपना महत्व पूर्ण स्थान रखता है।

भारतेन्दु काल अनूदित रचनाओं के लिए भी अधिक प्रसिद्ध है। इस काल में बँगला, अँगरेजी और संस्कृत के कई नाटकों का हिन्दी में अनुवाद हुआ।

भारतेन्दु काल हिन्दी नाट्य रचना का प्रथम काल है। इस काल के उन्नत मता कलाकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी नाट्य रचना के क्षेत्र में एक मिलन विन्दु पर खड़े हुए प्रतीत होते हैं, जहाँ दो धाराएँ आकर मिलती हैं—एक नाट्य शास्त्र के सिद्धान्तों की, और दूसरी पाश्चात्य नाट्य शास्त्र के सिद्धांतों की। भरतेन्दु जी की नाट्य-रचनाओं में दोनों ही सिद्धांतों का एक समन्यवसा दृष्टि-गोचर होता है। उन्होंने अपनी रचनाओं में पूर्ण रुपेण न तो भारतीय प्राचीन नाट्य परम्परा का पालन किया है, और न आँखें बन्द करके पाश्चात्य-विधि का ही अनुकरण किया है, उसके प्रतिकूल उनकी रचनाओं में दोनों के समन्वय से उत्पन्न एक नवीन पद्धति अग्रसर होती हुई दृष्टि गोचर होती है। उनके अनुवर्ती लेखकों ने भी उनके विधि-मार्ग पर चल कर उनके पद-चिन्हों का अनुकरण किया है।

भारतेन्दु काल में मौलिक और अनूदित दोनों ही प्रकार के नाटकों की रचना हुई। मौलिक नाटकों में कई ऐसे नाटक है, जो नाट्यकला की दृष्टि से सुन्दर कहे जा सकते हैं, पर फिर भी यह बात सत्य है, कि इस युग में किसी ऐसे नाटक की रचना नहीं हुई, जो प्रत्येक दृष्टि से सर्वोत्तम कहा जा सके। अनूदित नाटकों में कई ऐसे नाटक अवश्य सामने उपस्थित किये गए, जिनका नाट्य-साहित्य में महत्व पूर्ण स्थान है। इन मौलिक और अनूदित नाटकों ने हिन्दी नाट्य-साहित्य को एक गति प्रदान की। इनके द्वारा लोगों की प्रवृति सुसंस्कृत हुई, और लोग नाट्य-रचना के क्षेत्र में एक नवीन दिशा का निर्माण करने लगे। यह सत्य है, कि इस युग में सर्वो-

त्तम मौलिक नाटकों की रचना नहीं हुई, पर उसके साथ ही साथ यह भी सत्य है, कि इस युग में ही हिन्दी के सर्वोत्तम मौलिक नाटकों की नींव पड़ी! उसी नींव के परिणाम स्वरूप तो 'प्रसाद-युग' की सृष्टि हुई है।

उत्तर काल १६०५ से प्रारम्भ होता है। उत्तर काल अस्त व्यस्तता और आंदोलनों का युग है, इस काल में वंग भंग आंदोलन हुआ; और स्वाधीनता के लिए नवीन ढंग से राजनीतिक आंदोलन का सूत्र पात हुआ। इसका प्रभाव देश की स्थिति, और जनता के विचारों पर भी अधिक पड़ा। साहित्य भी इन आंदोलनों से प्रभावित हुए बिना न रहा। परिणाम स्वरूप नाट्य जगत में भारतेन्दु जी ने जो परम्परा स्थापित की थी, उसमें परिवर्तन उपस्थित हुआ। यह परिवर्तन उत्तर काल के ऐतिहासिक, प्रेम प्रधान, और समस्या मूलक नाटकों में स्पष्ट रूप से दृष्टि गोचर होता है।

उत्तर काल में तीन प्रकार के नाटकों का मुख्य रूप से प्रणयन हुआ—पौराणिक, ऐतिहासिक, और समस्या मूलक। पौराणिक नाटकों में महावीर रचित, 'नल दमयन्ती', जयशंकर प्रसाद जी द्वारा रचित 'करुणालय,' और बद्रीनाथ भट्ट द्वारा रचित 'कुरुवन दहन' का महत्व पूर्ण स्थान है। पौराणिक नाटकों में कई ऐसे नाटकों की रचना हुई, जिनमें राम और कृष्ण शाखा की भावनाएँ हैं ऐतिहासिक नाटकों में शालिग्राम का 'कुंठ विक्रय' श्री वृन्दावन लाल का सेनापति उदाल बद्रीनाथ भट्ट का चन्द्रगुप्त, और तुलसीदास अधिक प्रसिद्ध है। समस्या प्रधान नाटकों में मिश्र बन्धुओं 'नेत्रोन्मीलन' अपना विशेष स्थान रखता है।

उत्तर काल में मौलिक नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत, बँगला, और अँगरेजी आदि भाषाओं से अनूदित रचनाएँ भी सामने आई हैं। अनूदित रचनाओं में 'उत्तर रामचरित,' 'मृच्छक टिक,' और 'नागानन्द' का अनुवाद अधिक महत्व पूर्ण है।

प्रसाद का . सन् १६१६ से प्रारम्भ होता है। प्रसाद काल अंकावात का युग था। द्वितीय महायुद्ध समाप्त हो गया था, अँगरेज शासकों की नीति के कारण देश के भीतर विक्षोभ की भावना जाग्रत हो उठी थी। राजनीतिक चेतना का देश के कोने कोने में उदय हो रहा था। इसका प्रभाव साहित्य के ऊपर भी पड़ा। साहित्य के अंतर्गत भी राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ। नई समस्याओं, नवीन विचारों, और नवीन आदर्शों ने साहित्य के भीतर प्रवेश किया; फल स्वरूप छाया वाद, रहस्य वाद, और प्रगति वाद ने जन्म धारण किया। नाट्य जगत में भी विस्मयकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ। अँगरेजी साहित्य के अधिक सम्पर्क में आने के कारण नाट्य जगत में नई कला ने जन्म धारण किया। यह नई कला बहुत कुछ पश्चिमी कला से प्रभावित थी। इसके फल स्वरूप ऐसे नाटकों की सृष्टि हुई, जिनमें बुद्धि की प्रधानता थी। ऐतिहासिक, और समस्या मूलक नाटकों की रचना प्रसाद काल में हुई।

नाट्यकला की दृष्टि से प्रसाद काल अधिक महत्व पूर्ण है। हिन्दी की नाट्य कला ने इस युग में अपने को अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। एक ओर तो उसने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की परम्परा का निर्वाह किया है, और दूसरी ओर उसने पाश्चात्य कला के साथ मिलकर अपने भीतर नवीनता को जन्म दिया है। इस दृष्टि से यह कहना असंगत न होगा, कि प्रसाद काल में विभिन्न प्रकार की नाट्य शैलियों का संगम है। प्रसाद काल में नई और पुरानी शैलियों ने एक साथ मिल कर हिन्दी नाट्य कला का अभिसार प्रशंसनीय ढंग से किया है।

प्रसाद काल की रचनाओं को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—पौराणिक, ऐतिहासिक, समस्या मूलक, और अनूदित। पौराणिक नाटकों में वियोगहरि जी की 'छद योगिनी,' श्री मैथिलीशरण की तिलोत्तमा, और गोविन्द वल्लभ पंत की 'वरमाला' का प्रमुख स्थान है। ऐतिहासिक नाटकों में प्रसाद जी के नाटक महत्व पूर्ण स्थान रखते हैं। उनके अतिरिक्त 'उग्र' का 'महात्मा ईसा', प्रेमचंद का 'कर्बला' मिलिंद का 'प्रताप प्रतिज्ञा' उदय शंकर भट्ट का विक्रमादित्य,' और सेठ गोविन्ददास जी का 'हर्ष' अपना विशिष्ट स्थान रखता है। समस्या मूलक नाटकों में श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र के नाटक अधिक महत्व पूर्ण हैं। प्रहसनों की रचना में श्री जे० पी० श्री वास्तव, 'उग्र' और 'सुदर्शन' की रचनाओं ने अधिक सुख्याति प्राप्त की है। अनूदित रचनाओं में द्विजेन्द्र लाल राय शेक्स पियर, भवभूति, और ग्राल्स वर्दी इत्यादि कलाकरों की कृतियों का अनुवाद अधिक महत्व पूर्ण है।

आधुनिक काल १६३४ ई० से प्रारम्भ होता है। विचारों की दृष्टि से यह काल अधिक महत्व पूर्ण है। इस काल में देश की राजनीतिक जागृति ने विप्लव का रूप धारण किया, और इसी काल में देश की स्वराज्य प्राप्ति की वह अभिलाषा भी पूर्ण हुई, जो सदियों से देश के हृदय में आकुलता का ज्वार उत्पन्न कर रही थी। देश की इस राजनीतिक परिस्थिति का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पूर्ण रूप से पड़ा है। हिन्दी का नाट्य-क्षेत्र भी उससे पूर्ण रूप से प्रभावित हुआ है। इस काल में जो नाटक लिखे गए, उनके विचारों और समस्याओं की प्रधानता है।

आधुनिक काल के नाटकों को भी हम चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं:— पौराणिक, ऐतिहासिक, प्रेम मूलक, और समस्या मूलक। पौराणिक नाटकों में सेठ गोविन्ददास जी का 'कर्त्तव्य', उदय शंकर भट्ट का 'राधा', अंबा, सगर विजय, मत्स्य गंधा, और 'विश्वामित्र' का प्रमुख स्थान है। ऐतिहासिक नाटकों में उदय शंकर द्वारा रचित 'दाहर या सिंध पतन', गोविन्द वल्लभ द्वारा रचित 'राजमुकुट' और 'अन्तः पुर का छिद्र', उपेन्द्रनाथ द्वारा रचित 'जय पराजय, हरिकृष्ण प्रेमी द्वारा रचित 'रक्षा बन्धन', 'शिवा साधना', प्रतिशोध, और स्वप्न भंग इत्यादि उल्लेखनीय हैं। 'प्रेम मूलक' नाटकों में कमला कांत के 'प्रवासी' और प्रतीकवादी नाटकों में 'पन्त' की 'ज्योत्स्ना का' महत्व पूर्ण स्थान है। समस्या मूलक नाटकों में

श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र, श्री 'उग्र', श्री गोविन्द वल्लभ पन्त, श्री वृन्दावन लाल वर्मा और श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नाटकों की गणना की जाती है।

आधुनिक काल में एकांकी नाटकों की भी महत्व पूर्ण रचना हुई है। हिन्दी में में एकांकी नाटकों का जन्म अँगरेजी और बँगला के ही सम्पर्क के कारण हुआ है, आधुनिक एकांकी नाटककारों में श्री भुवनेश्वर, श्री रामकुमार वर्मा, श्री उदय शंकर भट्ट, श्री गोविन्ददास सेठ, श्री पृथ्वीनाथ शर्मा, श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र, श्री चतुरसेन शास्त्री इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र— परिचय

भारतेंदु हरिश्चंद जी हिन्दी गद्य-पद्य के युग पवर्तन कहे जाते हैं। हिन्दी साहित्य में उनका अधिक महत्त्व पूर्ण स्थान है। आज हिन्दी की जो सर्व व्यापिनी उन्नति हो रही ही, उसकी नींव उन्होंने ही डाली थी। उनके महत्त्व को समझने के लिए उनके पूर्व के इतिहास की एक झलक देख लेना आवश्यक होगा। आज हिन्दी कविता के क्षेत्र में जहां विश्व भावनाओं की सृष्टि हो रही हैं, वहाँ भारतेंदु हरिश्चंद के पूर्व उसमें केवल 'श्रृगार' की संकीर्ण भावनाओं की ही अधिकता थी। रीतिकाल के अधिकांश कवियों में केवल काव्य के वाह्य स्वरूप को ही सँवारने में अपनी काव्य-शक्ति का उपयोग किया है। सर्व प्रथम भारतेदुजी की ही रचनाओं में अनन्तर्प्रवृति की झलक मिलती है। सर्व प्रथम उन्होंने ही रीतिकाल के काव्य प्रवाह को मोड़ कर उसे जीवन की दिशा में बहानेका प्रशंसनीय प्रयत्न किया। काव्य की भाँति गद्य के क्षेत्र में भी उनके द्वारा नवीन युग की स्थापना हुई। हिन्दी गद्य के तो वे मुख्य रूप से जन्मदाता है। उनके पूर्व हिन्दी-गद्य का कहीं कोई परिष्कृत, और परिमार्जित स्वरूप नहीं, मिलता। जो गद्य मिलता है, उसका कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। उनके पूर्व का गद्य-पद्य की भाँति ही है। सर्व प्रथम भारतेंदु जी ने ही हिन्दी गद्य को 'गद्य' का स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने 'गद्य' को 'गद्य' का स्वरुप ही नहीं प्रदान किया, वरन् उसको विकसित किया। उन्होंने उसकी शैलियों की नीव डाली। आज उन्हीं की स्थापित की हुई शैलियाँ हिन्दी-गद्य में विकसित होकर प्रत्येक क्षेत्र में अपनी क्षमता प्रगट कर रही है।

हिन्दी में नाट्य कला के भी जन्मदाता भारतेंदु हरिश्चंद जी ही हैं। भारतेंदु हरिश्चंद जी के पूर्व जब हिन्दी गद्य का ही कोई स्वरूप नहीं था, तो नाट्य रचना होती भी तो किस प्रकार! उनके पूर्व का हिन्दी साहित्य नाट्य रचना से शून्य है। सातवीं शताब्दी में जब हर्ष के शासन का पतन हुआ। तब संस्कृत के नाटकों के जीवन में भी 'पतन' और 'निराशा' की भावना उपस्थित हो उठी। मुसलम नों के आक्रमण के होने के साथ ही साथ रंगशालाएँ उजड़ गईं। देश में चारों ओर घोर निराशा का वातावरण छा गया। सत्रहवीं 'शताब्दी तक' किसी का ध्यान नाट्य रचना

की ओर आकर्षित ही नहीं हुआ। सर्व प्रथम सं० १६८४ में संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' का अनुवाद 'हनुमान नाटक' के नाम से हुआ। इसके अनुवादक हृदयराम उपनाम 'र म' थे। इसके पश्चात् संस्कृत के और भी कई नाटक हिन्दी में अनूदित किये गए, जिनमें 'समय सार, 'प्रबंध चंद्रोदय', 'रघुवंश', 'मेघदूत, 'शकुन्तला, इत्यादि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनूदित नाटकों के अतिरिक्त कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गए। जिनमें 'रामायण महानाटक, 'देवमाया प्रपंच, 'सभासार' रामलीला बिहार, 'आनन्द रघुनंदन नाटक', और 'नहुष' इत्यादि का मुख्य स्थान है। किन्तु इन नाटकों की समीक्षा करने से पता चलता है, इनमें उन तत्वों का सर्वथा अभाव है, जो नाटक के तत्व कहे जाते हैं, और जिनके कारण किसी भी 'नाटक' को महत्त्व पूर्ण स्थान प्राप्त होता है। सर्व प्रथम भारतेंदु जी की ही रचनाओं में वे 'तत्त्व' मिलते हैं, जो नाटक के द्वारा कहे जाते हैं। अतः हिन्दी नाट्यकला के भी प्रवर्तक भारतेंदु जी ही माने जाते हैं।

भारतेंदु जी का नाम १८५० ई० में काशी की ठठेरी गली में एक सुप्रसिद्ध वंश में हुआ था। उसके पिता का नाम बाबू गोपाल चंद उपनाम गिरिधर दास जी था। वे हिन्दी के अनन्य प्रेमी, और प्रतिष्ठित कवि थे। इनकी माता का नाम पार्वती देवी था, जो अधिक धर्मानुरागिनी थी। भारतेंदू जी को धर्म, काव्य, संस्कृति, उदारता, और सहृदयता का सफल बरदान अपने माता-पिता के ही द्वारा प्राप्त हुआ था।

भारतेन्दु जी की अवस्था जब पाँच वर्ष की थी, उसी समय उनकी माता का स्वर्गवास हो गया। दस वर्ष की अवस्था में उन के पिता भी स्वर्ग वासी हो गए। अल्प वय में ही माता-पिता के स्नेह से वंचित हो जाने के कारण भारतेंदु जी का बाल-हृदय पीड़ा से अधीर हो उठा, साथ ही उनके जीवन में निश्चिंतता भी आ गई। उन्होंने घर पर ही पढ़ कर, विभिन्न भाषाओं की शिक्षा प्राप्त की। वे उर्दू फारसी, अँगरेजी, संस्कृत, और बँगला के अच्छे विद्वान थे। उन्होंने इन सभी भाषाओं का ज्ञान स्वाध्याय के ही द्वारा प्राप्त किया था।

पन्द्रह वर्ष की अवस्था में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी का विवाह मन्ना देवी के साथ हुआ। विवाह के पश्चात् भारतेन्दु जी ने भारत के विभिन्न तीर्थ स्थानों की यात्राएँ की। यात्राओं से लौटने के पश्चात् वे 'कर्मठ और मनस्वी की भाँति हिन्दी साहित्य, समाज और देश की सेवा में जुट गए। उन्होंने हिन्दी गद्य-पद्य में नए युग की स्थापना की। गद्य और पद्य में उन्होंने कई पुस्तकों का निर्माण किया। नाट्य जगत में सर्व प्रथम उन्होंने ही पदार्पण किया। भाषा और शैली के स्वरूप को भी उन्होंने निश्चित किया। इस प्रकार उनके द्वारा हिन्दी गद्य और पद्य के क्षेत्र मे एक नए युग की सृष्टि हुई।

वे केवल साहित्य निर्माण कर्त्ता ही नहीं थे, प्रचारक भी थे। उन्होंने एक ओर तो साहित्य का निर्माण किया, और दूसरी ओर हिन्दी के प्रचार मे भी योग

दिया। उन्होंने कई स्थापित की। और 'कवि वचन सुधा' नायक एक पत्र भी प्रकाशित किया। वे स्वयं ही इस पत्र के सम्पादक थे। साहित्य क्षेत्र के अतिरिक्त उनके द्वारा शिक्षा, धर्म, और समाज के क्षेत्र में भी प्रशंसनीय सेवाएँ हुईं। इस प्रकार उनकी सेवाएँ चतुर्मुखी हैं।

१८८५ ई० में केवल चौंतीस वर्ष की अल्पायु में ही उनका स्वर्गवास हो गया। इस अल्पायु में ही उनके द्वारा हिन्दी का इतना अधिक हित हुआ, कि वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में सदा के लिए अक्षुण हो गया है। उन्होंने अपने जीवन की इस छोटी अवधि में हिन्दी साहित्य के विकास की एक ऐसी लड़ी स्थापित की, जो दिनों दिन अधिक सुदृढ़ होकर उन्नति की ओर अग्रसर होती जा रही है। हिन्दी-साहित्य की वर्तमान सर्वांगीण उन्नति के रूप में आज वही लड़ी चारों ओर फैली हुई है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने प्रायः २३८ ग्रन्थों की रचना की है। पर हम यहाँ केवल उनके प्रमुख नाटकों की ही चर्चा करेंगे। उनके नाटक दो प्रकार के होते हैं—मौलिक, और अनूदित। उनके नाटकों के नाम इस प्रकार हैं:—

मौलि :—

(१) प्रवास—यह पौराणिक नाटक है, कहा जात है, कि अपूर्ण हैं।

(२) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति—यह एक प्रहसन है। इसकी रचना का समय १८७३ ई० है।

(३) सत्य हरिश्चन्द्र—यह एक पौराणिक नाटक है। इसकी रचना का काल १८७५ ई० है। कुछ लोग इसे भारतेन्दु जी की मौलिक रचना नहीं मानते। उनका कथन है, कि भारतेन्दु जी ने इसकी रचना क्षेमेश्वर के 'चंड कौशिक' के आधार पर की है।

(४) प्रेम योगिनी—यह एक सामाजिक नाटिका है। इसकी रचना का समय १८७५ ई० है।

(५) विषस्य विषमौषधम्—यह एक राजनीतिक भाण है। इसकी रचना का काल १८७६ ई० है।

(६) श्री चन्द्रावली—यह एक पौराणिक नाटिका है। इसकी रचना काल १८७६ ई० है।

(७) भारत जननी - यह एक नाट्यगीत है।

(८) भारत दुर्दशा—यह एक लास्य रूपक है। इसकी रचना का काल १८८० ई० है। बाबू ब्रजरत्नदास जी ने इसकी रचना का समय १८७६ ई० निश्चित किया है।

(९) नील देवी—यह एक ऐतिहासिक गीति-रूपक है। इसकी रचना का समय १८८१ ई० है।

(१०) **अन्धेर नगरी**—यह एक सामाजिक प्रहसन है। इसकी रचना का समय १८८१ ई० है।

(११) सती प्रताप—यह एक पौराणिक नाटक है। इसकी रचना का समय १८८२ ई० है।

(१२) नव मल्लिका—यह एक पौराणिक नाटक है।

अनूदितः—

(१) रत्नावली—यह एक आख्यानक नाटिका है।

(२) पाखंड विडंबन—यह एक धार्मिक रूपक है। इसके अनुवाद का समय १८७२ ई० है। इसके मूल लेखक कृष्ण मिश्र।

(३) धनंजय विजय—यह एक पौराणिक व्यायोग है। इसके अनुवाद का समय १८७३ ई० है। कांचन इसके मूल लेखक हैं।

(४) कर्पूर मंजरी—यह एक पौराणिक सट्टक है। इसके अनुवाद का समय १८७५ है। मूल लेखक राजशेखर हैं।

(५) दुलभ बन्धु—यह एक आख्यानक नाटक है। यह शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आव वनिस' का अनुवाद है। १८८० ई० में इसका प्रकाशन हुआ था।

(६) मृच्छकटिक—यह एक राजनीतिक नाटक है। इसका मूल संस्कृत में है। यह अपूर्ण और अप्रकाशित है।

(७) विद्या सुन्दर—यह बँगला से अनुवादित एक नाटक है। इसका मूल संस्कृत में है, जो चोर कवि का लिखा हुआ है। इसके अनुवाद का समय १८६८ ई० है।

चन्द्रावली नाटिका

भारतेन्दु जी के नाटकों में 'चन्द्रावली' का अधिक महत्त्व पूर्ण स्थान है। इसका कलात्मक, और साहित्यिक दृष्टिकोण गौरव पूर्ण है। हिन्दी के सम्पूर्ण आचार्यों ने, इसके महत्व को स्वीकार किया है। स्वयं हरिश्चन्द्र जी को भी, अपने नाटकों में यह नाटिका सर्वाधिक प्रिय थी। इनकी नाट्य कारिता पर मुग्ध हो करके ही राजा राव श्री कृष्णदेव शरणसिंह जी ने इसका अनुवाद व्रजभाषा में और पण्डित गोपाल शास्त्री उपासनी जी ने संस्कृत में किया था। इसकी सर्व प्रियता का मुख्य कारण है, कि इसमें नाट्यकार-भारतेन्दु हरिश्चन्द जी की नाट्यकला का मुख्य रूप से विकास हुआ है। कथानक, पात्र, अंतर्द्वंद, भाषा, रस, अभिनय कथोपकथन, सिद्धांत, चरित्र चित्रण—प्रत्येक क्षेत्र में, भारतेन्दु जी की नाट्य प्रतिभा ने इस नाटिका के अंतर्गत अपनी विशेषता प्रगट की है। वे विशेषताएँ ही समष्टि बन कर इसकी सर्व प्रियता बन गई हैं।

स्वरूप का गठन—चन्द्रावली एक नाटिका है। भारतेन्दु जी ने इसके स्वरूप

का गठन 'नाटिका' के प्राचीन सिद्धांतों के आधार पर किया है। भारतेन्दु जी को इसके स्वरूप के गठन में कितनी सफलता हुई है, इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें 'नाटिका' के प्राचीन सिद्धांतों पर करना होगा। 'नाटिका नाट्य शास्त्र के अनुसार स्वरूप के अठारह भेदों में से प्रथम भेद है इसकी कथा कल्पित होती है, और इसमें कुल चार ही अंक होते हैं। पात्रों में स्त्रियों की संख्या अधिक होती है, दूसरे शब्दों में प्रायः स्त्रियाँ ही पात्र होती हैं। नायक धीर ललित राजा होता है। नायिका राजवंश की कोई प्रकीर्ण नायिका, अथवा रनिवास से सम्बन्ध रखने वाली कोई अन्य अनुरागवती सुन्दरी होती है, नायक राजा की महारानी के भय के कारण सदैव अपने प्रेम में शङ्का बनी रहती है। महारानी में 'मान' की प्रमुखता होती है। वह पग-पग पर मान करने वाली होती है। नायक और नवीन नायिका का संमिलन उसी की इच्छा के आधीन रहता है। शृंगार रस नाटिका मुख्य रस होता है। विमर्श सन्धि को छोड़ कर शेष चारों संधियाँ होती हैं। विमर्श सन्धि पहले तो होती ही नहीं, यदि होती भी है तो बहुत कम ! इसके चारों अको में कैशिकी वृत्ति के भिन्न रूपों का परिपालन किया जाता है।

'नाटिका' के उक्त सिद्धांतों को सामने रख कर अब हमें यह देखना है, कि चन्द्रावली के स्वरूप के संगठन में लेखक ने किस मार्ग का अनुसरण किया है। 'चन्द्रावली' की कथा को यद्यपि हम पूर्ण रूप से कल्पित कथा नहीं कह सकते, फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा, कि कथा के विस्तार में लेखक की कल्पना का ही अधिक हाथ है। भागवत और सूरसागर में चन्द्रावली की जो कथा मिलती है, वह बहुत छोटी है। लेखक ने अपनी प्रतिभा और कल्पना की शक्ति से उस छोटी कथा को बढ़ा कर चार अंकों में विभाजित कर दिया है। इस बढ़ी हुई कथा में कल्पना का ही अधिक अंश है। अतः नाटिका के सिद्धांतों के अनुसार यह मानना पड़ेगा, कि कथा की दृष्टि से चन्द्रावली में प्राचीन आदर्श की ही रक्षा की गई है। अब पात्रों पर विचार कीजिए। नाटिका के सिद्धांतों के अनुसार 'चन्द्रावली' में भी प्रायः स्त्री पात्र हैं। पुरुष पात्रों में शुकदेव, नारद, और श्री कृष्ण का नाम आता है। विष्कंभक में शुकदेव और नारद के दर्शन होते हैं; किन्तु उसके पश्चात् वे फिर कहीं आते। इसका कारण केवल यही है, कि मुख्य कथा-वस्तु से इनका कोई सम्बन्ध नहीं। चौथे अंक में श्री कृष्ण आते हैं, किन्तु उनका वेश योगिनी का होता है। इस प्रकार पहले श्री कृष्ण भी स्त्री के वेश में ही आते हैं; पुरुष के रूप में तो वे उसके पश्चात् प्रगट होते हैं।

अतः पात्र की दृष्टि से भी चन्द्रावली में प्राचीन परम्परा का ही पालन किया है। 'नाटिका' के सिद्धांतों के अनुसार 'नाटिका' का नायक कोई धीर-ललित राजा होता है। चन्द्रावली के नायक श्री कृष्ण हैं, जो यदुवंश के राजा हैं। धीर ललित नायक के उनमें सम्पूर्ण गुण हैं। नायिका चन्द्रावली है। चन्द्रावली भी एक राजा की ही पुत्री है, जिनका नाम चन्द्रभानु है। चन्द्रावली वाद्य और संगीत की कला

में अधिक पटु है। इस प्रकार नायक और नायिका की दृष्टि से भी 'चन्द्रावली' के स्वरूप का संगठन नाटिका के आदर्शों पर ही किया गया है।

अब नायक और नायिका के प्रेम व्यापार के भीतर प्रवेश कीजिए। 'नाटिका' के सिद्धांतों के अनुसार नायक राजा को, महारानी के कारण सदैव प्रेम के प्रति शंका बनी रहती है। "चन्द्रावली' में भी नायक श्री कृष्ण के मन में इसी प्रकार की शंका विद्यमान है। 'नाटिका' में नायक और नवीन नायिका का मिलन महारानी की इच्छा के ही आधीन रहता है। 'चंद्रावली' में भी उसी 'इच्छा' का उल्लेख है। 'चंद्रावली' के पात्रों की बातचीत में नायक की 'शंका' और महारानी की 'इच्छा' का स्पष्ट चित्र मिलता है। देखिए:—

"यदि राधा 'प्यारी जू', या 'प्रिया जू', या स्वामिनी हैं, तो चंद्रावली 'छोटी स्वामिनी' है, अर्थात् कनिष्ठा है, और ज्येष्ठा का डर बराबर बना रहता है।"

"कैसा विलक्षण प्रेम है, यद्यपि माता पिता, भाई बन्धु, सब निषेध करते हैं, और उधर श्रीमती जी का भय है...।"

"श्री कृष्ण और चन्द्रावली के मिलने के लिए 'प्यारी जू' का मनाया जाना आवश्यक है। कृष्ण जी भी 'प्यारी जू' के डर से चन्द्रावली से नहीं मिल पाते।"

"सखी वे का करैं। प्रिया जी के डर सों वधू नहीं कर सकैं।"

"स्वामिनी ने आज्ञा दई है, कि प्यारे सों कही दै चन्द्रावली की कुंज में सुखे न पधारौ।"

ऊपर के अवतरणों से यह स्पष्ट प्रगट है, कि श्री कृष्ण के मन में, महारानी के भय के कारण अपने प्रेम के प्रति कितनी शंका है। अन्त में महारानी की इच्छा से ही 'चन्द्रावली' और श्री कृष्ण मिलन भी हो सका है। अतः यह स्वीकार ही करना पड़ेगा, कि प्रणय-व्यापार में भी 'नाटिका' के सिद्धान्तों की रक्षा की गई है।

'नाटिका' के नियमों के अनुसार चन्द्रावली में भी शृंगार रस की प्रधानता है। कैशिकी की वृत्तियाँ भी इसके चारों अंकों में मिलती है। यह बात अवश्य है, कि महारानी का 'मान' प्रगट नहीं हुआ है। किन्तु केवल एक इसी अभाव के कारण यह नहीं जा सकता, कि 'चन्द्रावली' के स्वरूप का गठन 'नाटिका' के सिद्धान्तों के अनुसार नहीं किया गया है।

'चन्द्रावली' के स्वरूप संगठन में प्राचीन परम्परा का पूर्ण रूप से पालन किया गया है। प्रारम्भ में 'सूत्र धार' और 'नांदी' की भी व्यवस्था है। नांदी के पश्चात् 'प्ररोचना' विधि का पालन किया गया है। प्ररोचना उसे कहते हैं, जिसके द्वारा कवि की, वस्तु की, अथवा प्रसंग की प्रसंशा की जाती है। 'चन्द्रावली' में नांदी के पश्चात् 'प्ररोचना' के अन्तर्गत ही भारतेन्दु और उनके गुणों की प्रशंसा की गई

है। 'प्रस्तावना' का भी चन्द्रावली में स्वरूप देखने को मिलता है। प्रस्तावना उस बातचीत को कहते हैं, जो सूत्रधार अपने परिपार्श्वक से नाटक के पात्रों के समयोचित कामों के सम्बन्ध में करता है। प्रस्तावना के पाँच भेद होते हैं—उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक, और आवलागित। चन्द्रावली में जहाँ सूत्रधार ने शुकदेव जी से बातचीत की है, वहाँ प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना घटित हुई है।

कथानक और उसका नाटकत्व—'चन्द्रावली' का कथानक श्री मद्भागवत, और सूर सागर में मिलता है। पर वह बहुत ही छोटा है। भारतेन्दु जी ने, अपनी कल्पना-शक्ति से उसका विस्तार किया है। अतः वह वर्तमान रूप में पूर्ण मौलिक सा बन गया है। उसमें कल्पना का अंश इतना अधिक है, कि पूरा कथानक कल्पित, और मौलिक सा ज्ञात होता है। पूरी कथा चार अङ्कों में विभक्त है, जो इस प्रकार है:—"कथा के प्रारम्भ में सूत्रधार आता है, और परिपार्श्वक से बातचीत करता है, तत्पश्चात् वह भारतेन्दु जी का परिचय देता हुआ उनके गुणों की प्रशंसा भी करता है। इसके पश्चात् नारद और शुकदेव मुनि उपस्थित होते हैं, जो चन्द्रावली और श्री कृष्ण के पारस्परिक प्रेम की बातचीत करके अदृश्य हो जाते हैं। 'नाटिका' में पुनः इनके दर्शन नहीं होते।"

इसके पश्चात् **प्रथम अङ्क** प्रारम्भ होता है। यहीं से कथानक प्रारम्भ होकर आगे बढ़ता है। प्रथम अंक में चन्द्रावली, और उसकी सखी ललिता का संलाप है। संलाप में प्रणय की भावना की प्रमुखता है। चन्द्रावली के प्रेम का परिचय, उसकी मुखाकृति को देखकर ललिता को मिलता है। 'चन्द्रावली' पहले तो अपने प्रेम को गुप्त रखने का प्रयत्न करती है, पर जब वियोग, और संयोग की दशाओं से सुपरिचिता-ललिता के समक्ष उसकी बुद्धि काम नहीं करती, तब वह अपनी प्रणय आतुरता को स्वीकार कर लेती है। फिर तो श्री कृष्ण के प्रेम के सम्बन्ध में दोनों में बड़ी तन्मयता पूर्ण बातें होती हैं। **द्वितीय अङ्क** में चन्द्रावली के वियोग का चित्रण है। चन्द्रावली वियोग में उन्मादिनी बन जाती है, और प्रलाप करने लगती है। उसकी उन्मादावस्था में ही वनदेवी, संध्या, और वर्षा का प्रवेश होता है, किन्तु चन्द्रावली को इनके आगमन का भान नहीं होता। वह इनकी उपस्थिति में भी प्रेम का ही प्रलाप करती है। वह श्री कृष्ण के प्रेम के सम्बन्ध में उनसे अनेक प्रकार की बातें कर जाती है। इसी अंक में **अङ्कावतार** भी है। अंकावतार में श्री कृष्ण के नाम 'चन्द्रावली की पाती' का उल्लेख है। **तृतीय अङ्क** में चन्द्रावली और उसकी सखियों की पारस्परिक बातचीत का वर्णन है। वर्णन में प्रेम भाव की प्रधानता है। प्रेम को उद्दीप्त करने के लिए इस अंक में वर्षा की छटा, और झूले के आनन्द का भी चित्रण है। 'चन्द्रावली' बातचीत के द्वारा श्री कृष्ण के प्रति अपनी प्रेम-भावना को प्रगट करती है। चन्द्रावली की सखियाँ उसकी विरहावस्था को देख कर श्री कृष्ण से मिलने का उपाय निश्चित करती है। **चतुर्थ अङ्क** फल

प्राप्ति का अंक है। पहले श्री कृष्ण एक योगिनी का स्वरूप धारण करके आते हैं। बगिनी प्रेम का गीत गाने लगती है। इसके पश्चात् चन्द्रावली और ललिता भी वहाँ पहुँच जाती है। तीनों में प्रणय सम्बन्धी बातें होती हैं। ललिता चन्द्रावली को श्री कृष्ण का स्मरण दिलाती है। 'चन्द्रावली' प्रेम के गीत गाने लगती है। ललिता चन्द्रावली को झिड़कती है। पर चन्द्रावली प्रेम के गीत गाती ही जाती है। श्री कृष्ण रूपी योगिनी चन्द्रावली के प्रणय की प्रशंसा करने लगती है। योगिनी की बातों से चन्द्रावली के मन में संशय उत्पन्न हो जाता है। वह मन ही मन ताड़ जाती है, कि हो न हो, योगिनी रूप में श्री कृष्ण ही हों। चन्द्रावली के मन में प्रणय का ज्वार उत्पन्न हो जाता है। वह गाने लगती है, और मूर्च्छित होकर गिरने-सी लगती है। इसी समय बिजली चमकती है। श्री कृष्ण योगिनी के रूप को छोड़ कर अपना स्वरूप धारण करते हैं, और चन्द्रावली से प्रेम-पूर्वक मिलते हैं। यह मिलन स्वामिनी जी की आज्ञा के अनुसार ही हुआ है।"

कथानकत्व चन्द्रावली के कथानक में स्वाभाविकता के साथ विकसित हुआ है। कथानक चन्द्रावली के प्रेम को लेकर प्रारंभ होता है; और इष्ट प्राप्ति के रूप में उसका अंत होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं, कि कथानक का अंत अधिक सुख पूर्ण है, जो भारतीय पद्धति और आदर्श के अनुकूल है। प्रणय प्रारंभ होने और इष्ट प्राप्ति के बीच में कथानक के प्रवाह की अखंडता देखने में आती है। यह बात अवश्य है, कि कहीं उसकी गति तीव्र और कहीं उसकी गति मंद हो गई है। पर उसकी गति में कहीं भी व्यवधान उपस्थित नहीं हुआ है। कथानक का प्रारभ जिस गति से हुआ है, अंत तक वह उसी गति से चलता हुआ दृष्टिगोचर होता है। उसकी गति में सरलता, समानता, और स्वाभाविकता है। कथानक के प्रवाह में, बीच में कहीं भी छोटी छोटी कथाओं के रूप में धाराएँ आकर नहीं मिली हैं, अतः कथानक जटिलता के दोष से सुरक्षित है।

कथानक के संगठन में प्रेम, विरह और मिलन की भावनाओं की मुख्यता है। प्रथम अंक में प्रेम, द्वितीय और तृतीय में विरह, तथा चतुर्थ में मिलन की भावनाओं का चित्रण है। प्रथम अंक के कथानक में प्रेम की स्थितियाँ दर्शाई गई हैं, 'प्रेम' की स्थिति में मनुष्य के मन की कैसी स्थिति हो जाती है, इसका भी चित्र प्रथम अंक में मिलता है। द्वितीय और तृतीय में विरह को उद्दीप्त करने वाले दृश्य हैं। क्योंकि द्वितीय और तृतीय में विरह का ही अधिक चित्रण है। चतुर्थ अंक 'मिलन' का अंक है। 'मिलन' के पूर्व प्रेम की परीक्षा भी हुई है, जिसमें चन्द्रावली का प्रेम खरा प्रमाणित हुआ है। इस प्रकार कथानक में स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता का भी समावेश हुआ है। स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता के कारण कथानक अधिक सजीव, और आकर्षक बन गया है। सरसता तो उसकी मुख्य वस्तु है। कई आचार्यों का कथन है, कि चंद्रावली के कथानक में जो सरसता है, वह अन्यत्र

बहुत कम मिलती है। सरसता, स्वाभाविकता, और प्रणय के अंतर्द्वन्द्वों के ही कारण 'चंद्रावली' हरिश्चंद जी के नाटकों में सबको सबसे अधिक प्रिय है।

'चन्द्रावली' के कथानकत्त्व में भावों की ही प्रचुरता है। वाह्य घटनाओं का समावेश उसमें बहुत कम हुआ है। भावों की प्रचुरता होने के कारण अन्तर्द्वन्द्वों का बड़ी सुन्दरता के साथ विकास देखने को मिलता है। अन्तर्द्वन्द्वों के चित्रण में सरलता और सरसता का पुट है। प्रेम, विरह, और मिलन की स्थितियों के चित्रण को अलंकारिकता, और चमत्कारिता से दूर रक्खा गया है। यद्यपि चित्रण में काव्य शैली का समावेश है, पर उसमें 'अलंकारिकता' न होकर स्वाभाविकता ही है।

नाटकत्त्व की दृष्टि से ही कथानक का निर्वाह किया गया है। कथानक चार अंकों में विभाजित है। उसके विभाजन में नाटक की प्रकृति, और उसके सिद्धांतों की पूर्ण रक्षा की गई है। कथानक इस प्रकार विभाजित किया गया है, कि उसके चारों अंकों में विभिन्न कार्यावस्थाओं, अर्थ प्रकृतियों, और सन्धियों का सुन्दरता के साथ निर्वाह हुआ है।

नाटक के कथानक में कार्य व्यापार की दृष्टि से उसकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं:—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, और फलागम। 'चंद्रावली' के चारों अंकों में, क्रम से इन अवस्थाओं की संयोजना हुई है। 'प्रथम अंक' में 'प्रारंभ' नामक कार्यावस्था है। क्योंकि कथानक का अन्तिम फल क्या है, उसका पूर्ण संकेत इस अंक में मिलता है। 'चंद्रावली' के 'प्रणयाविर्भाव' के साथ यह अंक प्रारम्भ होता है। चंद्रावली और ललिता दोनों में प्रणय सम्बन्धी वार्तालाप होता है। वार्तालाप से ललिता 'चंद्रावली' के प्रणय को ताड़ जाती है; पर फिर भी 'चंद्रावली' अपने प्रणय को उससे गुप्त रखने का प्रयत्न करती है। 'ललिता' अधिक चतुर है। वह चांद्रावली के मन की बात को जानने के लिए उस 'फल' की ओर संकेत करती है, जिसकी प्राप्ति के लिए चन्द्रावली के मन में उत्कट कामना है। वह उसे सांत्वना प्रदान करती हुई कहती है:—"जो तेरी इच्छा हो, पूरी करने को उद्यत हूँ।"

द्वितीय अंक में 'चंद्रावली' के अन्तर का प्रेम विकसित होता है, और वह अपने प्रियतम को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न भी करती है। उसके मन में रह रह कर 'प्रियतम' को देखने की इच्छा उत्पन्न होती है। वह पागलों के से प्रलाप करती है, और अपनी सखियों से उसे 'निरमोही' बताकर उसका 'मुँह दिखाने' की बात कहती है। वह उसे पत्र भी लिखती है, जिसका उल्लेख अंकावतार में 'चंद्रावली की पाती' के रूप में है। इस प्रकार द्वितीय अंक में 'प्रयत्न' नामक कार्यावस्था का संयोजन है।

तृतीय अंक में विरह के रूप में चन्द्रावली का प्रेम और भी अधिक आगे बढ़ता है। ज्यों ज्यों उसका विरह तीव्र होता है, त्यों त्यों उसके मन में 'प्रियतम मिलन'

की आशा और सम्भावना बढ़ती जाती है। 'चंद्रावली' को अपने प्रेम की दृढ़ता पर विश्वास है। उसकी सखियाँ जो प्रयत्न करती हैं, उनसे चंद्रावली के मन में इस बात का पूरा भरोसा है, कि वह किसी न किसी क्षण 'प्रियतम' को अवश्य प्राप्त कर लेगी, पर इस 'अंक' में भी अभी 'मिलन' का पूर्ण निश्चय नहीं हो सका है। संभावना और आशा अवश्य है, पर विफलता की आशंका भी साथ ही लगी हुई है—"चंद्रावली विचारी तो आप ही गई बीती है, उसमें भी अब तो पहरे में है, नजरबन्द रहती है, झलक भी नहीं देखने पाती......।' पहरे में नजरबन्द रहने वाली 'चन्द्रावली' के मन की दशा विफलता का ही उद्रेक करती है। अतः इस तृतीय अंक में प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था है।

चतुर्थ अंक में नियताप्ति और फलागम नामक कार्यावस्थाएँ पाई जाती हैं। तृतीय अंक की 'विफलता' की आशंका चतुर्थ अंक में मिट जाती है। चतुर्थ के प्रथम चरण में 'चंद्रावली' के मन में प्रियतम की प्राप्ति की पूर्ण आशा हो जाती है। उसके शुभदायी अंग फड़कने लगते हैं। 'योगिनी' का रूप धारण करके जब श्री कृष्ण आते हैं, तब वह कहती है—"हाय, प्राणनाथ कहीं तुम्हीं तो 'योगिन' बन कर नहीं आए हो।" चन्द्रावली के इस वाक्य से यह प्रगट होता है, कि अब उसे इष्ट प्राप्ति की पूर्ण आशा हो गई है। अतः यहाँ नियताप्ति कार्यावस्था है। इसी अंक में आगे चन्द्रावली अपने प्रियतम को पा लेती है। यही इस कथानक का इष्ट है। अतः फलागम कार्यावस्था है।

कार्यावस्था के साथ ही साथ **अर्थ प्रकृति** का भी नाटिका में योग मिलता है। अर्थ प्रकृति के पाँच रूप माने गये हैं—बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी, और कार्य। चन्द्रावली के प्रथम अंक में 'बीज' की स्थापना की गई है। क्योंकि कथानक का जो भाग प्रथम अंक में है, उसमें उसका 'फल' छिपा हुआ है। ललिता के वाक्य में स्पष्टतः छिपे हुए फल की ओर निर्देश किया गया है। द्वितीय अंक में कथा का विस्तार हुआ है। द्वितीय अंक में ऐसी बातें हुई हैं, जिनसे कथा के विस्तार में सहायता मिलती है। प्रथम अंक में 'चन्द्रावली' के मन के भीतर जो प्रेम जाग्रत हुआ था, वह द्वितीय अंक में अपनी सत्ता को बनाये रख कर और भी अधिक विकसित होता है। अतः द्वितीय अंक में 'विंदु' नामक अर्थ प्रकति है। तृतीय अंक में ऐसी बातें हैं, जो अन्तिम फल की ओर ले जाने में सहायक सिद्ध हुई हैं। वे बातें हैं वर्षा और झूले का वर्णन। वर्षा और झूले से चन्द्रावली के उस 'प्रेम' की और भी अधिक उद्दीप्ति होती है, जिसमें 'फल' की प्राप्ति के लिए आकुलता का ज्वार है। वर्षा और झूले से उसके मन के प्रेम में वह आकुलता उत्पन्न होती है, जो 'प्रेम फल' प्राप्ति की सहायिका है। अतः तृतीय अङ्क में पताका और प्रकरी नामक अर्थ प्रकृति का योग है। चतुर्थ अंक में 'कार्य' नामक अर्थ प्रकृति है, क्योंकि प्रथम अंक से लेकर चतुर्थ अंक तक जिस विषय का वर्णन किया गया है, उसके 'फल' की सिद्धि चतुर्थ अंक में ही होती है।

प्राचीन नाट्य सिद्धांतों के अनुसार 'नाटक' या 'नाटिका' में सन्धियाँ भी होती हैं। नाटक में प्रधान कथा के अतिरिक्त और भी अन्यान्य कथाएँ होती हैं। मुख्य कथा से इन कथाओं को कुशलता पूर्वक मिलाने को ही संधि कहते हैं। कार्यावस्था और अर्थ प्रकृति के योग से कथा में जो नाटकीय चमत्कार उत्पन्न होता है, उसका निदर्शन संधियों के ही द्वारा होता है। संधियाँ पाँच हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, और निर्वहण। 'चंन्द्रावली' में कार्यावस्था और अर्थ प्रकृति के साथ-साथ पाँचों संधियाँ भी मिलती हैं।

प्रथम अंक में कथा की प्रारम्भिक अवस्था है। 'बीज' नामक अर्थ प्रकृति के योग से कथा में कई अर्थों की व्यंजना हुई है। जैसे:—सखी, मैं तो पहले ही कह चुकी हूँ, कि तू धन्य है। संसार में जितना प्रेम होता है...।" ललिता के इस वाक्य में भविष्य की घटनाएँ अन्तर्निहित हैं। अतः यहाँ मुख संधि है। द्वितीय अंक में वह 'बीज' प्रस्फुटित होता हुआ दिखाई देता है, जो प्रथम अंक में था। अतः द्वितीय अंक में प्रतिमुख संधि है। तृतीय अंक में वह 'बीज' सहसा लुप्त हो गया है, जो द्वितीय अंक अंकुरित हुआ था, और साथ ही उसकी खोज के लिए प्रयत्न भी किया जा रहा है। 'चंद्रावली' की सखियाँ उसकी नजरबन्दी से अधिक चिंतित हो उठी हैं। एक ओर उनके मन में 'फल प्राप्ति' के लिए आशंका उत्पन्न हो उठी है, और दूसरी ओर वे उसकी दयनीयावस्था को देखकर उसके लिए प्रयत्न में भी संलग्न हो उठी हैं। सखियों को प्रयत्न में रत देखकर चंद्रावली के मन में 'फल प्राप्ति' की आशा का संचार हो उठा है। अतः यहाँ 'गर्भ संधि' है। चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में फल प्राप्ति के मार्ग में कई विघ्न बाधाएँ उपस्थित हुई हैं; जैसे 'चंद्रावली' का मूर्च्छित हो जाना, और उसके मन में यह आशंका उत्पन्न होना, कि कहीं 'स्वामिनी' जी श्री कृष्ण जी को आज्ञा न दें तो! अतः यहाँ विमर्श संधि है। विमर्श संधि के आगे निर्वहण संधि है। क्योंकि मूर्च्छा भंग पर चारों संधियों में वर्णित बातों का मेल मिल जाता है, और मुख्य फल की प्राप्ति होती है। 'चंद्रावली' को उसके प्रियतम श्री कृष्ण मिल जाते हैं, और वह प्रेम से उनके गले में गल बाँही देती हैं।

[**प्रणय का स्वरूप**—'चन्द्रावली' के कथानक का आधार 'प्रणय' है। 'प्रणय' के भावों से ही कथानक का संगठन किया गया है। कथानक में आदि से लेकर अंत तक 'प्रणय' का ही पुट है।] 'चन्द्रावली' के मन में पहले 'प्रणय' जाग्रत हुआ है, फिर विरह के रूप में उसका विकास हुआ है। विकसित विरह को उद्दीप्त करने के लिए वर्षा और झूले का वर्णन भी हुआ है, और फिर 'फल' की प्राप्ति हुई है। फल की प्राप्ति के रूप में श्री कृष्ण उसको मिले हैं, और उसने उनके गले में गल बाँही डाली है।

'चन्द्रावली' के प्रणय में त्याग और उत्सर्ग की भावना है। वह जब श्री कृष्ण से प्रणय करती है, तो इतना प्रणय करती है, कि अपने अस्तित्त्व को भी

भूल जाती है। उसे जगत और जगत की स्थितियों का भी भान नहीं रहता। वह श्री कृष्ण के प्रेम में उन्मादिनी बन जाती है, और दिन-रात उन्ही के प्रेम का राग गाती रहती है। वह वन्दिनी भी बनाई जाती है, नजरबन्द भी की जाती है—पर फिर भी उसके मन से श्री कृष्ण का 'प्रणय' नहीं जाता। विरह और विघ्न-बाधाओं की आग में पड़ कर उसका 'प्रणय' और भी अधिक खरा हो जाता है। इतना अधिक खरा हो जाता है, कि श्री कृष्ण को स्वयं उसके पास 'योगिनी' के रूप में आना पड़ता है, और अन्त में वास्तविक रूप में उससे मिलना पड़ता है। जिस प्रकार चन्द्रावली और श्री कृष्ण का मिलन हुआ है, उसे देख कर निःसंकोच यह कहना पड़ता है, कि चन्द्रावली का प्रेम उसका आंतरिक प्रेम था, और उसके प्रेम में त्याग और उत्सर्ग की भावनाएँ थी।

चन्द्रावली के प्रणय का आधार क्या था? क्या कृष्ण का रूप, अथवा गुण! आदि से लेकर अन्त तक चन्द्रावली का अध्ययन करने के पश्चात् यही कहना पड़ेगा, कि चन्द्रावली के 'प्रणय' में वासना का अंश नही है। यद्यपि 'चन्द्रावली' में स्थान-स्थान पर ऐसे हलके शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो वासना के जनक स हैं, पर चन्द्रावली के हृदय के भीतर भी वासना थी—इसका आभास कही भी नही मिलता। इसके प्रतिकूल चन्द्रावली और उसकी सखियो की बातचीत से उसके प्रणय की विशुद्धता ही प्रगट होती है। उसके प्रणय मे वासना नहीं, 'आस्था' और 'भक्ति' है। श्री कृष्ण के प्रति उसके मन मे आसक्ति है। उसका विकास आस्था, और 'भक्ति' के ही क्षेत्र मे हुआ है।

'चन्द्रावली' का प्रणय किस प्रकार का प्रणय है—यह विचारणीय विषय है। यह सत्य है, कि चन्द्रावली का विवाह श्री कृष्ण से नही हुआ था, पर उसके साथ ही साथ यह भी सत्य है, कि वह श्री कृष्ण को 'पति' रूप मे ही प्राप्त करना चाहती है। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा, कि 'चन्द्रावली' का प्रणय दाम्पत्य की ओर उन्मुख है। उसके प्रणय में उच्छृंखलता नहीं, मर्यादा है। उसका प्रेम लौकिक मान-मर्यादाओं को तोड़ करके भी एक सीमा के भीतर रहने के लिए समाकुल है। वह सीमा हैं श्री कृष्ण! उसका प्रणय श्री कृष्ण की ओर इसलिए नही गतिशील है, कि वह उनके साथ क्रीड़ा करे, वरन् उसकी गतिशीलता में उनमें समाविष्ट हो जाने की भावना है।

'चन्द्रावली' का प्रेम अधिक सरस, सुकुमार, और मधुर है। उसका प्रेम अंतर्जगत के उस लोक में पला हुआ है, जहाँ प्राणों का निवास रहता है। चन्द्रावली ने अपने प्रणय का अभिसिंचन अपने प्राणों के ही रस से किया है। प्रणय संबंधी उसके स्वर उसके प्राणों के स्वर हैं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र जी ने उसके स्वरों को अपने काव्य के साँचे में ढाल कर और भी अधिक प्राणमय बना दिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने उसके आंतरिक्त प्रणय के अभिसार के लिए प्रकृति सम्बन्धी वाह्य साधन भी एकत्र किए हैं। उन्होंने उसके आंतरिक प्रणय का सम्बन्ध प्रकृति से

स्थापित करके उसके भीतर और भी अधिक मोहक-आकर्षण उत्पन्न कर दिया है। चन्द्रावली का प्रणय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा एकत्र साधनों के वातावरण में खिल कर हृदय, प्राण, और मन-सबको स्पर्श ही नहीं करता, वरन् उनके भीतर एक झंकार भी उत्पन्न कर देता है।

रस की व्यंजना—नाटक के प्राचीन सिद्धांतों के अनुसार नाटिका में मुख्य रूप से **शृङ्गार रस** की व्यंजना होनी चाहिए। नाटिका के लक्षणों में उसका एक यह भी मुख्य लक्षण है। 'चन्द्रावली' नाटिका में मुख्य रूप से यह लक्षण घटित हुआ है। आदि से लेकर अन्त तक नाटिका के भीतर शृङ्गार रस की ही व्यंजना हुई है। प्रारम्भ में जहाँ शुकदेव और नारद मुनि का संलाप हुआ है, वहाँ शांत रस की अवतारणा हुई है। बीच-बीच में कहीं कहीं हास्य रस का भी पुट है। जहाँ कहीं भी हास्य रस आया है, अपने शिष्ट और संयत स्वरूप में आया है। किन्तु मुख्य रूप से सर्वत्र शृंगार रस की ही अभिव्यंजना हुई है।

'चन्द्रावली' नाटिका के भीतर शृंगार अपने पूर्ण अंगों के साथ प्रतिफलित हुआ है। शृंगार के अंगों में उसका मुख्य अंग स्थायी भाव 'रति' है। स्थायी भाव के अतिरिक्त आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव, और संचारी इत्यादि भी उसके अंग हैं। शृंगार वही पुष्ट और मन-मोहक होता है, जो अपने संपूर्ण अंगों से युक्त होता है। चन्द्रावली नाटिका में शृंगार का स्थायी भाव 'रति' अपने विकसित स्वरूप में है। चन्द्रावली और श्री कृष्ण का जो पारस्परिक प्रेम भाव है, उससे स्थायी भाव 'रति' को अधिक प्रोत्साहन और बल प्राप्त होता है। 'चन्द्रावली' स्थायी भाव का आश्रय, और श्री कृष्ण उसके आलबन हैं। चन्द्रावली और उसकी सखियों में जो प्रणय सम्बन्धी वार्तालाप हुआ है, तथा वर्षा, और हिंडोल का जो वर्णन हुआ है, वही उद्दीपन है। चन्द्रावली का विरह की अवस्था में प्रलाप करना, आँसू बहाना, पीली हो जाना, और उन्मत्ता बनकर इधर-उधर घूमना ही अनुभाव है।

संचारी के तैंतीस भेद कहे गए हैं, जिनसे स्थायी भाव अधिक पुष्ट होता है। 'चन्द्रावली' में संचारी के सभी भेदों का आविर्भाव नहीं हुआ है, और इसकी आवश्यकता भी नहीं है, फिर भी उसके कई मुख्य भेद स्थान-स्थान पर पाए जाते हैं। तीसरे अंक में "अच्छे खासे निर्लज्ज हो..." और "देखि घनस्याम घनस्याम की सुरति करि .." में क्रम से उग्रता और स्मृति नामक संचारी प्रतिफलित हुआ है। चतुर्थ अंक में 'धृति' और 'उन्माद' नामक संचारियों के दृष्टांत मिलते हैं। जैसे—"तू केहि चितवत चकित मृगी सी ." और "मन की कासों पीर सुनाऊँ..." इत्यादि; इसी तरह और भी कई संचारियों के दृष्टांत नाटिका में मिलते हैं, जो यहाँ स्थाना भाव के कारण नहीं दिए जा सकते।

शृंगार वही सुन्दर और सफल कहा जा सकता है, जहाँ वह अपने अंगों और भेदों से परिपुष्ट होता है। 'चन्द्रावली' में जहाँ शृंगार अपने अंगों से परिपुष्ट हुआ है, वहाँ

उसके दोनों भेदों—विप्रलंभ, और संयोग का भी चन्द्रावली में विकास हुआ है। 'प्रथम अंक' में जो 'प्रणय' उत्पन्न होता है, वह द्वितीय और तृतीय अंक में विरह से परिपुष्ट होता है। इस प्रकार द्वितीय और तृतीय अंक में विप्रलंभ का विकास चारुता के साथ हुआ है। चतुर्थ अंक में शृंगार का 'संयोग' रूप पाया जाता है, क्योंकि 'चतुर्थ अंक' में ही श्री कृष्ण और चन्द्रावली का संमिलन हुआ है।

प्रेम की परिपाटी के अनुसार किसी के मन में किसी के प्रति या तो उसे देख कर 'प्रणय' उत्पन्न होता है, और या उसके गुणों को सुन कर। चन्द्रावली ने श्री कृष्ण को देखा भी है, और उनके गुणों तथा सौन्दर्य के सम्बन्ध में सुना भी बहुत कुछ है। अतः चन्द्रावली के प्रेम में देखने और सुनने—दोनों की ही विशेषताएँ मौजूद हैं। चन्द्रावली के वियोग और प्रेम में जो तीव्रता है, उसका एक मात्र कारण यही है, कि चन्द्रावली श्री कृष्ण के सौन्दर्य, और उसके गुणों से भली भाँति परिचित है। इस विज्ञता ने ही तो उसके प्राणों को उन्माद के साँचे में ढाल दिया है।

'चन्द्रावली' का विरह वास्तविक विरह है। विरह की कई दशाएँ हैं। जैसे—स्मरण, गुण कथन, अभिलाषा, चिन्ता, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, और मूर्च्छा इत्यादि। 'चन्द्रावली' में विरह की ये सभी दशाएँ पाई जाती हैं। दृष्टात स्वरूप निम्नांकित पंक्तियों पर दृष्टिपात करना चाहिए—"बिछुरे पिय के जग सूनो...अब लेखिए का।" इसमें 'स्मरण' नामक वियोग की दशा है। "हम ही अपुनी दशा जानैं सखी, निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं"— यहाँ उद्वेग है। "अहो जमुना अहो खग मृग...मन मोहन हरि"—इसमें उन्माद है। इसी प्रकार और अन्यान्य दशाओं के भी दृष्टांता 'चन्द्रावली' के पृष्ठों में प्राप्त होते हैं।

चरित्र का विकास—'चन्द्रावली' में मुख्य रूप से कुल तीन पात्र हैं—चन्द्रावली, श्री कृष्ण, और ललिता। ललिता के साथ कुछ और भी सखियाँ हैं, किन्तु उनके चरित्र में प्रधानता नहीं है। 'नाटिका' के प्रारम्भ में शुकदेव और नारद मुनि भी रंग मंच पर उपस्थित होते हैं। किन्तु उनका भी मुख्य कथानक से कोई संबंध नहीं है। अतः 'नाटिका' में तीन ही पात्र ऐसे हैं, जिनके चरित्र पर विचार किया जा सकता है।

किन्तु उनमें भी चंद्रावली का चरित्र प्रमुख है। 'चंद्रावली' ही नाटिका की नायिका है। उसी के चरित्र के आधार पर नाटिका की संयोजना हुई है। प्रथम अंक से लेकर चतुर्थ अक तक चन्द्रावली का चरित्र ही मुख्य कथानक के रूप में विकसित हुआ है। 'चाद्रावली' राजकुंलोद्भवा है। वह राजा चन्द्रभानु की पुत्री है। उसका प्रेम जिसके प्रति है, वे स्वयं वह श्री कृष्ण हैं, जो सर्व गुण सम्पन्न हैं, और जो पर ब्रह्म परमात्मा के अवतार कहे जाते हैं। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा, कि चंद्रावली के हृदय में परमोच्च विचारों का समावेश है। उसने अपने प्रणय के लिए श्री कृष्ण को चुन कर अपने हृदय की महानता को सामने उपस्थित किया है। जिस प्रकार श्री कृष्ण के चुनाव में उसने अपनी महानता प्रदर्शित की है, उसी

प्रकार उसका प्रेम भी अधिक महान् और उच्च है। उसके प्रेम में जहाँ आस्था और भक्ति है, वहाँ उसमें त्याग और उत्सर्ग की भावना है। उसका प्रेम त्याग और उत्सर्ग की शिला पर ही स्थित है। त्याग और उत्सर्ग की शिला पर स्थित होकर, उसके प्रेम ने अनेक स्थितियों और दशाओं को पार किया है, और अन्त में 'त्याग' की शक्ति से ही उसने 'प्रणय' के फल को भी प्राप्त कर लिया है।

चंद्रावली के चरित्र में प्रेम की प्रधानता है। प्रेम के तत्त्वों से सुगठित उसके महान् चरित्र का विकास बड़ी स्वाभाविकता के साथ हुआ है। उसके चरित्र के विकास में एक गति है। प्रारम्भ में जिस दिशा की ओर उसके चरित्र ने संकेत किया है, अन्त तक वह उसी ओर एक गति से अग्रसर होता गया है। उसके चरित्र की गति में सरलता है। इसीलिए वह अधिक आकर्षक हो गया है। उसके आकर्षक होने का एक और सबसे बड़ा कारण है, और वह यह है, कि उसका निर्माण हृदय के पवित्र तत्त्वों से हुआ है; क्योंकि जिस 'प्रणय' के आधार को लेकर वह अग्रसर हुआ है, उसमें हृदय के तत्त्वों की ही प्रचुरता है। हृदय के पवित्रम तत्त्वों से युक्त होने के कारण चंद्रावली का चरित्र एक ऐसा चित्र सामने उपस्थित करता है, जिससे आत्म शुद्धि होती है, और मन में पवित्र भावनाएँ जाग्रत होती हैं।

'चंद्रावली' का प्रेम कई तत्त्वों से संगठित हुआ है। उसके मुख्य तत्त्व हैं:—त्याग, भक्ति, आस्था, शुद्धता, और पुरुषार्थ। वह एक शुद्ध हृदय वाली स्त्री है। उसके हृदय में छल कपट का लवलेश भी नहीं है। उसके शुद्ध हृदय के भीतर देवता की भाँति बैठा हुआ उसका प्रणय भी अधिक शुद्ध, और कपट की भावनाओं से शून्य है। वह जब प्रणय के मर्ग पर बढ़ती है, तो बड़ी निष्ठा के साथ आगे बढ़ती है। उसके प्रेम का संबल निष्ठा, आस्था, और तप है। अपनी निष्ठा, आस्था, और तप में वह अपने को पूर्ण रूप से खो देती है। इतना खो देती है, कि उसे अपने अस्तित्व का भी भान नहीं रहता। श्री कृष्ण के प्रेम में वह इतनी उन्मादिनी बन जाती है, कि बिना किसी संकोच के लौकिक मान-मर्यादाओं की प्राचीर को लाँघ जाती है। उसकी सखियाँ उसे फटकार भी बताती हैं, विघ्न बाधाएँ भी उसके संमुख आती हैं, पर वह किसी की ओर नहीं देखती। कृष्ण के प्रेम में उन्मादिनी बन कर आगे बढ़ती ही जाती है। उसकी गति तभी रुकती है, जब श्री कृष्ण को पा लेती है।

इस प्रकार उसके चरित्र में प्रेम और विरह की दराकाष्ठा है। आदर्श और तथ्य-दोनों का समन्वय उसके चरित्र में बड़ी सुन्दरता के साथ हुआ है। उसके चरित्र में जहाँ 'प्रेम' आदर्श के रूप में फलित हुआ है, वहाँ उसकी विरह की दशाएँ तथ्य के चित्रों को सामने उपस्थित करती हैं। उसके पूरे चरित्र में कहीं आदर्श, और कहीं तथ्य-दोनों खूब घुल मिल कर विकसित हुए हैं।

'चंद्रावली' के दूसरे पात्र श्री कृष्ण हैं। श्री कृष्ण चंद्रावली के नायक हैं। श्री-कृष्ण पर ब्रह्म परमात्मा के अवतार हैं। यद्यपि वे 'नायक' हैं, पर उनके चरित्र का

विकास नहीं हो सका है। प्रत्येक अंक में उनके अस्तित्व का पता अवश्य लगता है, पर उनके चरित्र के संबंध में ऐसी बातें नहीं हैं, जिनसे यह कहा जा सके, कि 'नाटिका' में उनके चरित्र का विकास हुआ है। उनके चरित्र के संबंध में इतना ही कहा जा सकता है, कि वे ब्रह्म स्वरूप हैं, और उनकी महानता पहले से ही मान ली गई है। तृतीय पात्र ललिता है। ललिता चंद्रावली की सखी है, जो प्रणय की कला में प्रवीण है। उसमें चपलता, चातुर्य, और स्त्रियोचित हास्य है। वह व्यंग्य करने में भी कुशल है, और मन के मर्मों को जानने की कला की भी क्षमता रखती है। वह चंद्रावली की सहायिका है। 'चंद्रावली' को फल की प्राप्ति में बहुत कुछ 'ललिता' से ही सहायता प्राप्त हुई है। 'ललिता' के साथ ही विशाखा, वल्लभा, श्यामला, और भामा इत्यादि सखियाँ भी हैं, पर उनके चरित्र के विकास की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया है, और इसकी आवश्यकता भी नहीं प्रतीत होती। एक-दो बार ही उनका नाम आकर रह गया है, जिससे वे चरित्र के विंदु नही बन सके हैं।

संलाप कला—'चंद्रावली' में मुख्य रूप से तीन पात्र हैं—चंद्रावली, श्री कृष्ण, और ललिता। ललिता के साथ उसकी कुछ और सखियाँ भी हैं, जिनके नाम विशाखा, माधुरी, माधवी और चन्द्रलता इत्यादि हैं। नाटिका के प्रारम्भ में नारद और शुकदेव मुनि के भी दर्शन होते हैं। यही सब पात्र हैं, जिनकी संलाप कला पर हमें यहाँ विचार करना है। सर्व प्रथम हम शुकदेव और नारद मुनि के कथोपकथन को ही लेंगे। यह दो ऐसे पात्र हैं, जो एक बार नाटिका के प्रारम्भ में आकर फिर नहीं दिखाई पड़ते। इनका जो कुछ भी कथोपकथन मिलता है, वह नाटिका के प्रारम्भ में ही मिलता है। इनका कथोपकथन परिचयात्मक और व्याख्यात्मक है। नारद और शुकदेव मुनि में जो संलाप हुआ है, उद्देश्य की दृष्टि से उनके संलाप में स्वाभाविकता, और मनोहरता है।

'चंद्रावली' नाटिका की मुख्य नायिका है। नाटिका में आदि से लेकर अन्त तक उसके ही 'संलाप' का जाल बिछा हुआ है। उसका 'संलाप' दो रूपों में परिस्फुटित हुआ है। एक तो सखियों से बातचीत के रूप में, और दूसरा स्वयं 'प्रलाप' के रूप में। 'चंद्रावली' के संलाप में स्वाभाविकता, सरसता, और तन्मयता है। वह अपनी बात को इस प्रकार कहती है, कि बात का विस्तार बराबर बढ़ता जाता है। वाक्य-व्यापार की कला उसके संलाप में कूट-कूट भरी हुई है। उसके हृदय में जो भाव है, वह उसकी वाणी में व्यक्त होता है। वह हृदय के भाव को अपनी वाणी के सूत्र में गूँथने में अधिक प्रवीण है। वह बात चीत करते समय कहीं भी स्वाभाविकता का परित्याग नहीं करती। 'प्रलाप' में भी उसके कथोपकथन में स्वाभाविकता है। सखियों के साथ बात चीत में उसके वाक्य 'छोटे छोटे' और अधिक सरस हैं। जहाँ कहीं स्वगत कथनों के रूप में उसने प्रलाप किया है, वहाँ उसके वाक्य अनावश्यक रूप से बड़े हो गये हैं, और नाटकीय व्यापार के लिए बाधक से सिद्ध हुए हैं, पर ऐसे अवसरों पर भी उनमें सरसता का अभाव नहीं होने पाया है। स्वगत कथनों को

छोड़ कर, चन्द्रावली के संलाप में सर्वत्र व्यावहारिकता और मितभाषिता है। उसके संलाप की सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि उसके संपूर्ण वाक्य हृदय के साँचे के ढले हुए हैं, जिनमें शक्ति मयता, निपुणता और चतुरता है।

'श्री कृष्ण' ने योगिनी के रूप में उपस्थित होकर संभाषण में भाग लिया है। उनके संलाप में मनोवैज्ञानिकता और द्वन्दात्मकता है। उनके संलाप का उद्देश्य 'चन्द्रावली' के प्रणय की परीक्षा है। उद्देश्य के अनुकूल ही उनके संलाप में मनोवैज्ञानिकता का समावेश किया गया है। 'ललिता' और अन्यान्य सखियाँ भी संभाषण की कला में पटु हैं। उनके संभाषण में चातुरी और दक्षता है। वे अपने कथोपकथन में स्त्रियोचित स्वभाव का परित्याग नहीं करतीं। उनकी बात चीत सर्वत्र स्वाभाविकता का ही छोर पकड़े हुए दृष्टिगोचर होती है। 'ललिता' उनमें अधिक पटु और वाक् विस्तार में दक्ष है।

अभिनयात्मकता—किसी भी नाट्य कृति की अभिनयात्मकता की परीक्षा करने के लिए हमें उसकी कुछ आवश्यक विशेषताओं पर ध्यान देना होगा। वे विशेषताएँ ऐसी हैं, जिनकी उपस्थिति में ही उसकी अभिनयात्मकता सिद्ध हो सकती है। सूक्ष्म रूप से उसकी विशेषताओं के नाम इस प्रकार हैं—अनुकृति, कथानक, पात्र, और उनके मन की दशाएँ, कथोपकथन, दृश्य, कार्य व्यापार, घटनाएँ, और काव्यत्त्व। इन्हीं विशेषताओं को सामने रख कर इस बात की परीक्षा की जा सकती है, कि 'चद्रावली' में अभिनयात्मकता का गुण है, या नहीं।

'चद्रावली' में ऐसी वस्तुएँ मुख्य रूप से पाई जाती हैं, जिनकी अनुकृति स्वाभाविकता के साथ का जा सकती है। 'अनुकृति' नाटक या नाटिका का प्रधान गुण होता है। 'नाटिका' मे हर्ष, कप, रोमांच, और अश्रु इत्यादि अवस्थाओं के चित्र बार बार मिलते है। यह ऐसी अवस्थाएँ हैं, कि इनका अनुकरण स्वाभाविकता के साथ किया जा सकता है, और उनका अनुकरण करके सात्त्विक अभिनय उपस्थित किया जा सकता है। नाटिका का कथानक बहुत ही सीधा सादा, और सरल है। कथानक के प्रवाह में भी शिथिलता दृष्टिगोचर नहीं होती। कथानक में छोटी छोटी कथाओं का भी समावेश नहीं हुआ है, जिससे यह कहा जा सके, कि कथानक में दुरूहता उत्पन्न हो गई है। अतः कथानकत्त्व की दृष्टि से भी 'चन्द्रावली' में अभिनयात्मकता पाई जाती है। पात्रों में मुख्य रूप से तीन ही पात्र हैं—चन्द्रावली, श्री कृष्ण और ललिता। ललिता के साथ उसकी कुछ और सखियाँ भी हैं। पात्रों का चुनाव भी सरलता के साथ किया जा सकता है। पात्रों में 'चन्द्रावली' ही एक ऐसा पात्र है, जिसके मन की अवस्थाओं का विकास मुख्य रूप से हुआ है। उसके मन की अवस्थाएँ ऐसी हैं; जिनकी अनुकृति रंग मंच पर स्वाभाविकता के साथ की जा सकती है। 'कथोपकथन' में भी सरलता और स्वाभाविकता है। 'भाषा' और संलाप में भी सरलता और स्वाभाविकता का ही पुट है। किन्तु 'नाटिका' में कार्य-व्यापार का अभाव है। दृश्यों और विषयों की विभिन्नता की भी 'चन्द्रावली' में बहुत कमी है। अभिनय

की दृष्टि से यह एक अभाव है, जिसके कारण उसकी अभिनयात्मकता की सफलता में वाधा उपस्थित हो सकती है। कार्य व्यापार और दृश्यों तथा विषयों की विभिन्नता की कमी दर्शकों के मनोरंजन में वाधा उपस्थित करेगी, और अभिनय का इष्ट पूर्ण न हो सकेगा, जो वांछित है। 'चन्द्रावली' में घटनाओं के घात प्रतिघात का भी अभाव है। इसके प्रतिकूल कविताओं की प्रचुरता है, और कई स्थानों में स्वगत कथनों के रूप में लंबे लंबे वाक्य भी हैं, जो अभिनय में वाधा उपस्थित कर सकते हैं।

अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा, कि अभिनय की दृष्टि से 'चन्द्रावली' में ऐसी कई विशेषताओं का अभाव है, जिनका होना अभिनय के लिए अधिक आवश्यक समझा जाता है। फिर भी इसका यह तात्पर्य नहीं, कि 'चन्द्रावली' में अभिनयात्मकता नहीं है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इसकी अभिनयात्मकता पर मुग्ध थे, और वे इसका अभिनय भी करना चाहते थे। पर उनके जीवन काल में उनकी यह इच्छा पूर्ण न हो सकी थी, क्योंकि उन दिनों अभिनय के उन साधनों का पूर्ण अभाव था, जो अभिनय के लिए अपेक्षित होते हैं।

प्रकृति के चित्र—'चन्द्रावली' में प्रकृति के चित्र भी कुछ मिलते हैं। प्रकृति के चित्रों के रूप में एक तो वर्षा का वर्णन हुआ है, और दूसरे यमुना जी की छटा का चित्रण है। किन्तु क्या इनका चित्रण उसी उद्देश्य से किया गया है, जिस उद्देश्य से प्रेरित होकर प्रकृति के दृश्यों के चित्र अंकित किये जाते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी की प्रकृति और उनकी रचनाओं पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तब हम कहीं भी उनका झुकाव प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण की ओर नहीं पाते। उनकी रचनाओं में कहीं भी शुद्ध रूप से प्रकृति के दृश्यों का वर्णन नहीं हुआ है। जहाँ कहीं उन्होंने प्रकृति के दृश्यों का वर्णन किया है, वहाँ उनके वर्णनों में प्रकृति के सौन्दर्य-तत्त्वों का विकास होने की अपेक्षा उनके कवि-कौशल का ही अधिक विकास देखने को मिलता है। वास्तव में उनका कभी प्रकृति से संपर्क था भी नहीं। वे नगर के निवासी थे, और आजीवन नगर निवासियों से ही उनका संबंध बना रहा। वे मानव प्रकृति के कवि थे। उनकी रचनाओं में मानव प्रकृति का विकास बड़ी सुन्दरता, और स्वाभाविकता के साथ हुआ है।

'चन्द्रावली' में प्रकृति के जो दृश्य मिलते हैं, उनका चित्रण भी इसी प्रकार का चित्रण है। उनके वर्णनों में प्रकृति के सौन्दर्य तत्त्व नहीं, वरन् काव्य परिपाटी का ही पालन किया गया है। चंद्रावली में प्रकृति के दृश्यों का वर्णन 'दृश्य-वर्णन' के उद्देश्य से नहीं, वरन् एक विशेष उद्देश्य से किया गया है, और वह विशेष उद्देश्य है, वियोगिनी 'चंद्रावली' और उसकी सहचरियों के भावों को उद्दीप्त करना। उद्देश्य को दृष्टि में रख करके हीं 'चंद्रावली' में प्रकृति के चित्र चित्रित *किए गए हैं। अतः चित्रण में प्रकृति के तत्त्वों की अपेक्षा उद्देश्य-उद्दीपनकारी* भावनाओं का ही अधिक विकास हुआ है।

प्रेम और भक्ति के तत्त्व—'चन्द्रावली में प्रेम और भक्ति की प्रधानता है।

किन्तु प्रेम भक्ति के ऊपर आधारित है, या भक्ति 'प्रेम' के ऊपर—इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें चन्द्रावली के पृष्ठों और उसके निर्माण कर्त्ता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के जीवन पर दृष्टिपात करना होगा। 'चंद्रावली' के पृष्ठों पर ध्यान देने से इस बात का पता चलता है, कि उसमें आदि से लेकर अन्त तक भक्ति तो है, पर वह प्रेम की ही ओर उन्मुख है। यों तो सर्वत्र भक्ति भावना का विकास नहीं हुआ है, पर प्रथम, द्वितीय, तृतीय, और चतुर्थ अंक में जहाँ भक्ति को प्रगट करने वाले वाक्य प्रयुक्त हुए हैं, वहां साथ ही साथ प्रेम भी लगा हुआ है। इसके प्रतिकूल 'नाटिका' में सर्वत्र प्रेम का वातावरण पाया जाता है। 'नाटिका' के आदि में जो प्रेम उमड़ता है, वह अन्त तक तीव्रतर होता हुआ चला जाता है। भक्ति की भावनाएँ प्रेम की छाया में ही उत्पन्न हुई हैं, और प्रेम के ही वातावरण में उसका पालन-पोषण भी हुआ है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के जीवन पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तो इस बात की सत्यता में रञ्च मात्र भी सन्देह नहीं रह जाता, कि चंद्रावली में भक्ति का विकास प्रेम के ही वातावरण में हुआ है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र वल्लभ कुल वैष्णव मता वलंबी थे. वल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में उनका अटूट विश्वास था, उन्होंने संवत् १६३० में 'तदीय' समाज नामक एक धार्मिक संस्था की स्थापना भी की थी, जिसके उद्देश्यों में 'प्रेम' का स्थान अधिक प्रधान था। वल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तक वल्लभाचार्य जी पुष्टि मार्गी थे। पुष्टि मार्ग में 'भक्ति' प्रेम और दया पर ही अवलंबित है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ऐसे व्यक्ति थे, जो पुष्टि मार्ग के सिद्धान्तों का अनुसरण करना अपना धर्म और कर्त्तव्य समझते थे। उनकी अधिकांश रचनाओं में पुष्टि मार्ग के सिद्धान्तों का विकास हुआ है। 'चन्द्रावली' की रचना में उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में पुष्टि मार्ग के सिद्धांतों का ही प्रतिपादन किया गया है।

पुष्टि मार्ग की भक्ति के सिद्धांत क्या हैं—यहाँ इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। पुष्टि मार्ग के सिद्धांतों के अनुसार श्री कृष्ण ही पर ब्रह्म परमात्मा हैं। पुष्टि मार्ग में 'श्री कृष्ण' को छोड़ कर और कोई आराध्य नहीं हो सकता। श्री कृष्ण की कृपा ही जीव के लिए सर्वस्व है। जीव अपना सर्वस्व कृष्ण के चरणों पर समर्पित कर देता है, और वह सदैव उनकी ही कृपा का इच्छुक बना रहता है। वह अपनी सत्ता भी तुच्छ समझता है। श्री कृष्ण की कृपा को प्राप्त करना ही उसका इष्ट होता है। वह दिन रात उनकी कृपा की ही याचना किया करता है। उनकी कृपा को छोड़ कर वह उनसे और कोई वस्तु नहीं माँगता। उसका प्रेम और उसकी भक्ति निष्काम होती है। धीरे धीरे श्री कृष्ण की कृपा से ही उसके प्रेम और भक्ति में इतनी दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है, कि वह चारों ओर से अपने मन को हटाकर दिन रात श्री कृष्ण के ध्यान में तन्मय रहता है। वह अपनी तन्मयता में श्री कृष्ण की वंशी का रव सुनता है, और उनके साथ भाँति-भाँति की लीलाएँ भी करता है।

पुष्टि मार्ग के सिद्धांतों के अनुसार ही 'चन्द्रावली' में श्री कृष्ण को पर ब्रह्म

परमात्मा का स्वरूप माना गया है। नांदी पाठ में जो स्तुति की गई है, उसमें स्पष्टतः श्री कृष्ण की सत्ता को 'परब्रह्म' के ही अंतर्गत माना गया है। शुकदेव और नारद की बातचीत में श्री कृष्ण की सत्ता को 'परब्रह्म' के ही रूप में प्रगट किया गया है। चंद्रावली और उसकी सखियों की बातचीत से भी यही ध्वनि निकलती है। 'चंद्रावली' के प्रेम का विकास पुष्टि मार्ग के सिद्धांतों को ही दृष्टि में रख कर किया गया है। 'चंद्रावली' एक विनीत 'जीव' के रूप में है, जो श्री कृष्ण रूपी परमात्मा के चरणों पर अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर देती है। वह जब श्री कृष्ण रूपी 'ब्रह्म' को पहचान लेता है, तब उसकी अनुरक्ति उसमें हो जाती है। शनैः शनैः अनुरक्ति इतनी बढ़ जाती है, कि उसमें जगत की सत्ता भी डूब जाती है, और अन्त में उसकी, अर्थात् चंद्रावली रूपी 'जीव' की श्री कृष्ण रूपी 'ब्रह्म' से भेंट होती है। पुष्टि मार्ग के अनुसार जीव का यही परम पुरुषार्थ है।

भाषा—'चन्द्रावली' की भाषा दो प्रकार की है—गद्य की, और पद्य की; अर्थात् एक भाषा तो वह है, जिसका प्रयोग गद्य में हुआ है; और दूसरी भाषा वह है जो कविताओं में व्यवहृत हुई है। गद्य की भाषा दो प्रकार की है—खड़ी बोली, और ब्रजभाषा। गद्य में भाषा के प्रयोग में नियम और व्यवस्था की ओर ध्यान बहुत कम दिया गया है। भारतेन्दु जी ने अपनी इच्छा के अनुसार ही कहीं खड़ी बोली, और कहीं ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। द्वितीय और तृतीय अंक में 'चन्द्रावली' की सखियाँ अपनी रुचि के अनुसार ही कहीं खड़ी बोली और कहीं ब्रजभाषा के प्रयोग करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं।

भाषा के स्वरूप का गठन सरसता और मनोरमता के साथ किया गया है। शब्द सरल, और व्यावहारिक हैं। संस्कृत शब्दों में उन्हीं शब्दों को ग्रहण किया गया है, जो सरल और बोध गम्य हैं। विदेशी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। पर वे शब्द ऐसे हैं, जो अधिक प्रचलित और व्यावहारिक हैं। शब्दों में व्यंजकता और ओजस्विता है। शब्दो के प्रयोग में पात्र, भाव, विषय, और स्थिति को अधिक महत्त्व दिया गया है। बीच-बीच में मुहाविरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग मिलता है, जिससे भाषा में अधिक बल और प्रवाह उत्पन्न हो गया है।

'चन्द्रावली' की भाषा अधिक सरल और मृदुल है। 'सरसता' का पुट उसकी भाषा में विशेष रूप से मिलता है। उसकी भाषा में मर्म को स्पर्श करने की शक्ति है। वह अपने हृदय के मर्म स्पर्शी और गूढ़ भावों को भी सरल भाषा में ही व्यक्त करती है। उसकी भाषा के शब्द अधिक सरस और सुकोमल हैं। यों तो पूरी 'नाटिका' की भाषा में सरसता और सुकोमलता है, पर 'चन्द्रावली' की भाषा में उसका अधिक सुन्दर स्वरूप देखने को मिलता है। 'ललिता' और उसकी सखियों की भाषा भावानुरूप और स्त्रियोचित है। श्री कृष्ण की भाषा ब्रज है, जो ललित है। पद्य की भाषा ब्रज है, जिसमें सरसता और प्रसाद गुण की प्रचुरता है।

—:०:—

श्रीचन्द्रावली

नाटिका

स्थान—रंगशाला

(ब्राह्मण आशीर्वाद पाठ करता हुआ आया)

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अलौकिक घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर।

और भी

नेति नेति तत्-शब्द-प्रतिपाद्य सर्व भगवान।
चंद्रावली—चकोर श्रीकृष्ण करौ कल्यान॥

चन्द्रावली—'नाटका' की मुख्य नायिका है। 'नाटिका' के कथानक में मुख्य रूप से 'चन्द्रावली' के ही चरित्र का विकास हुआ है। ग्रंथ का नामकरण 'चन्द्रावली' के ही नाम के आधार पर किया गया है। **रंगशाला**—नाटक का अभिनय करने के स्थान को रगशाला कहते है। **भरित नेह...मन मोर**—यह मंगलाचरण के रूप में नांदी पाठ है। भारतेंदु हरिश्चंद्र जी को यह दोहा सबसे अधिक प्रिय था। चंद्रावली नाटिका के अतिरिक्त कर्पूर मंजरी, मुद्राराक्षस, प्रेम योगिनी, होली, और प्रेम फुलवारी में भी नांदी पाठ के रूप में इसका प्रयोग हुआ हैं। मंगलाचरण तीन प्रकार का होता है—वस्तु निर्देशात्मक, नमस्कारात्मक, और आशीर्वादात्मक। 'जय' और 'जयति' शब्द का प्रयोग जिस मंगला चरण में होता है उसे आशीर्वादात्मक मंगला चरण कहते है। ऊपर का दोहा आशीर्वादात्मक है। **भरित**—भरा हुआ। **नेह**—स्नेह, प्रेम। **नेह-नव-नीर**—स्नेह रूपी नवीन जल; अर्थात वह स्नेह, जो नित्य नवीन ही रहता है। **सुरस**—सुंदर या अच्छा रस। **अथोर**—अ+थोर (थोड़); अर्थात् कम नहीं, अधिक। **अलौकिक**—अ+लौकिक; जो इस लोक में न होती हो; दिव्य। **तत्-शब्द प्रति पाद्य**—'तत्' शब्द के प्रमाण की जिसको आवश्यकता हो। **चन्द्रावली-चकोर**—जिनके लिए चन्द्रावली चकोर की भाँति हो। **घन**—बादल; पर यहां श्री कृष्ण के लिए है। **लखि**—देखकर। **मन मोर**—मन रूपी मोर; मेरा मन। **नेति नेति**—न+इति; जिस का अंत न हो; आदि अंत रहित। **तत्**—ब्रह्म। **प्रति पाद्य**—जिसके लिये प्रमाण अपेक्षित हो।

(सूत्रधार आता है)

सूत्र०—बस बस, बहुत बढ़ाने का कुछ काम नहीं। मारिष ! मारिष ! ! दौड़ो दौड़ो, आज ऐसा अच्छा अवसर फिर न मिलेगा, हम लोग अपना गुण दिखाकर आज निश्चय कृतकृत्य होंगे

(पारिपार्श्वक आकर)

पारि०—कहो कहो, आज क्यों ऐसे प्रसन्न हो रहे हो ? कौन सा नाटक करने का विचार है और उसमें ऐसा कौन-सा रस है कि फूले नहीं समाते !

सूत्र०—आः, तुमने अबतक न जाना ? आज मेरा विचार है कि इस समय के बने एक नए नाटक की लीला करूँ, क्योंकि संस्कृत नाटकों को अपनी भाषा में अनुवाद करके तो हम लोग अनेक बार खेल चुके हैं, फिर बारंबार उन्हींके खेलने को जी नहीं चाहता।

पारि०—तुमने बात तो बहुत अच्छी सोची, वाह क्यों न हो, पर यह तो कहो कि वह नाटक बनाया किसने है ?

सूत्र०—हमलोगों के परम मित्र हरिश्चन्द्र ने।

सूत्रधार—नाटक के अभिनय का प्रबंध कर्ता [देखो भूमिका]। **मारिष**—अभिनय में माननीय महात्माओं के लिए आदर सूचक संबोधन। [देखो भूमिका] **कृतकृत्य**—सफल मनोरथ। **पारिपार्श्वक**—अनुचर; सूत्रधार का सहायक विशेष नट [देखो भू०] **फूले नहीं समाते**—अत्यधिक प्रसन्न हो रहे हो ! यह मुहाविरा है। **बारंबार**—बार बार; पुनः पुनः।

सारांश—सूत्रधार रंग मच पर उपस्थित होता है। वह अधिक प्रसन्न है। वह मारिष से कहता है, कि आज गुणों और कलाओं के प्रदर्शन का अलभ्य अवसर है। ऐसे अवसर को हाथ से नहीं जाने देना चाहिए। इसी समय पारिपार्श्वक आता है। वह सूत्रधार से उसकी प्रसन्नता का कारण पूछता है, और यह भी पूछता है, कि उसके मन में कौन सा नाटक खेलने का विचार उत्पन्न हुआ है, और उसमें कौन सा रस है ? सूत्रधार उसकी बात का उत्तर देते हुए कहता है, कि वह एक नवीन मौलिक नाटक है। उसके रचयिता भारतेंदु हरिश्चंद्र हैं।

पारि०—(मुँह फेर कर) किसी समय तुम्हारी बुद्धि में भी भ्रम हो जाता है। भला वह नाटक बनाना क्या जाने। वह तो केवल आरम्भ-शूर है। और अनेक बड़े-बड़े कवि हैं, कोई उनका प्रबंध खेलते।

सूत्र०—(हँसकर) इसमें तुम्हारा दोष नहीं, तुम तो उससे नित्य नहीं मिलते। जो लोग उसके संग में रहते हैं वे तो उसको जानते ही नहीं, तुम बिचारे क्या हो।

पारि०—(आश्चर्य से) हाँ, मैं तो जानता ही न था, भला कहो उनके दो चार गुण मैं भी सुन सकता हूँ ?

सूत्र०—क्यो नहीं, पर जो श्रद्धा से सुनो तो।

पारि०—मैं प्रति रोम को कर्ण बना कर महाराज पृथु हो रहा हूँ, आप कहिए।

मुँह फेरकर—उदासीनता पूर्वक। **भ्रम**—धोखा, सन्देह। **आरम्भ शूर**—कार्य प्रारम्भ करना तो जानता हो, किन्तु दृढ़तापूर्वक कार्य को पूर्ण करने में रुचि न रखता हो। **प्रति**—प्रत्येक। **रोम**—लोम, रोया। **कर्ण**—कान। **पृथु**—सृष्टि के प्रारम्भ मे उत्पन्न होने वाला राजा, जो वेणु का पुत्र था। अधिक धर्म निष्ठ, और तपस्वी था। उसी के राज काल मे पृथ्वी पर गाव और नगर बसे थे। 'धरणी' उसकी कन्या थी, इसीलिए उसका 'पृथ्वी' नाम प्रसिद्ध हुआ। **रोम को...पृथु हो रहा हूँ**—पृथ्वी के द्वारा ही पृथ्वी का विस्तार हुआ था। पारिपार्श्वक कहता है, कि मेरे शरीर का विस्तार अधिक हो जाने से उसमें लोमों की संख्या अधिक बढ़ गई है। मेरे एक एक लोम कान बनकर तुम्हारी बात सुनने के लिए उत्सुक है।.

सारांश—सूत्रधार और पारिपार्श्वक में वार्तालाप हो रहा है। सूत्रधार भारतेन्दु हरिश्चंद्र की प्रशंसा करता है, पर पारिपार्श्वक उसे स्वीकार नहीं करता। वह उत्तर मे कहता है, कि पहले तुम उनके कुछ गुणों को बताओ, तब मैं तुम्हारी बात मानूँ। मैं उनके गुणों को सुनने के लिए अधिक समुत्सुक हो रहा हूँ।

सूत्र०—(आनंद से) सुनो—

परम-प्रेमनिधि रसिक-बर, अति-उदार गुन-खान।
जग-जन-रंजन, आशु-कवि, को हरिचन्द-समान॥
जिन श्रीगिरिधरदास कवि, रचे ग्रन्थ चालीस।
ता सुत श्रीहरिचन्द कों, को न नवावै सीस॥
जग जिन तृन-सम करि तज्यौ, अपने प्रेम-प्रभाव।
करि गुलाब सों आचमन, लीजत वाको नाँव॥
चन्द टरै सूरज टरै, टरैं जगत के नेम।
यह दृढ़, श्रीहरिचन्द को, टरै न अविचल प्रेम॥

पारि०—वाह-वाह! मैं ऐसा नहीं जानता था, तब तो इस प्रयोग में देर करनी ही भूल है।

(नेपथ्य में)

स्रवन-सुखद भव-भय-हरन, त्यागिन कों अत्याग।
नष्ट-जीव बिनु कौन हरि-गुन सो करै विराग॥
हम सौंहू तजि जात नहिं, परम पुन्य फल जौन।
कृष्ण कथा सौं मधुरतर जग मैं भाखौ कौन?॥

परम प्रेम-निधि—अत्यधिक प्रेम का भंडार। **रसिक-वर**—प्रेमियों, और रसिकों में श्रेष्ठ। **अति-उदार**—बहुत ही दयापूर्ण। **जग-जन रंजन**—संसार के मनुष्यों को प्रसन्न करने वाला। **आशु कवि**—वह कवि, जिनमें तत्काल काव्य रचना करने की शक्ति हो। **करि गुलाब...नाँव**—उसका नाम इतना पवित्र है, कि गुलाब जल से मुँह धोने के पश्चात् उसका नाम लेना चाहिए। **अविचल**—स्थिर, जो टल न सके। **स्रवन**—कान। **भव-भय हरन**—सांसारिक विपत्तियों, और विघ्न-बाधाओं को दूर करने वाला। **त्यागिन को अत्याग**—जिसे बड़े-बड़े त्यागी भी त्याग नहीं सकते। **नष्ट-जीव**—पतित जीवात्मा वाला; पापी। **भाखौ**—कथन करो, कहो।

सारांश—सूत्रधार हरिश्चन्द्र के गुणों की प्रशंसा करता है। हरिश्चन्द्र के गुणों की प्रशंसा करता हुआ, वह उनके पिता श्री गिरिधरदास जो की भी प्रशंसा करता है। सूत्रधार के मुँह से हरिश्चन्द्र की प्रशंसा सुनकर पारिपार्श्वक अपनी भूल प्रगट करता है। इसी समय पर्दे के भीतर से शुकदेव मुनि का स्वर सुनाई पड़ता है, जिसमें श्री कृष्णजी के गुणों, और उनकी महानता का सार भरा हुआ है।

सूत्र०—(सुनकर आनन्द से) अहा! वह देखो मेरा प्यारा छोटा भाई शुकदेव जी बनकर रंगशाला में आता है और हम लोग बातों ही से नहीं सुलझे। तो अब मारिष! चलो, हम लोग भी अपना-अपना वेष धारण करें।

पारि०—क्षण भर और ठहरो, मुझे शुकदेव जी के इस वेष की शोभा देख लेने दो, तब चलूँगा।

सूत्र०—सच कहा, अहा कैसा सुन्दर बना है, वाह मेरे भाई वाह! क्यों न हो, आखिर तो मुझ रंगरंजक का भाई है।

अति कोमल सब अंग रग साँवरो सलोना।
घूँघरवाले बालन पैं बलि वारौं टोना॥
भुज बिसाल, मुख चंद झलमले, नैन लजौंहैं।
जुग कमान सी खिंची गड़त हिय में दोउ भौंहैं।

छबि लखत नैन छिन नहिं टरत शोभा नहिं कहि जात है।
मनु प्रेमपुंज ही रूप धरि आवत आजु लखात है॥
तो चलो, हम भी अपने-अपने स्वाँग सजकर आवें।

(दोनों जाते हैं)

॥ इति प्रस्तावना ॥

रंग रंजक—रँगने वाला। **साँवरो**—श्यामल रंग का। **सलोना**—सुन्दर। **बलि वारौं**—बलैया लेकर निछावर करता हूँ। **टोना**—जादू। **भुज बिसाल**—बड़ी भुजा। **मुख-चन्द झलमले**—जिसका मुख चन्द्रमा के समान ज्योतिवाला है। **नैन लजौंहैं**—जिसके नेत्रों में लज्जा है। **प्रेमपुंज**—प्रेम का समूह।

सारांश—शुकदेव मुनि सुसज्जित वेश में रंगमंच पर उपस्थित होते हैं। मारिष, यद्यपि पारिपार्श्वक से कहता है, कि वह भी जाकर सुन्दर वेश धारण कर आए, पर पारिपार्श्वक शुकदेव मुनि की सुन्दरता को देखने के लिए रुक जाता है। सूत्रधार उसके इस रुकने का समर्थन करता है, और शुकदेव मुनि के वेश की प्रशंसा करता हुआ उनके अंगों, बालों, भुजाओं, मुख, और भौंहों के सौन्दर्य की भी प्रशंसा करता है।

अथ विष्कम्भक

(आनंद में झूमते हुए डगमगी चाल से शुकदेव जी आते हैं)

शुक०—(स्रवन सुखद इत्यादि फिर से पढ़कर) अहा ! संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है कोई नेम धर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त, कोई मत-मतांतर के झगड़े में मतवाला हो रहा है, एक दूसरे को दोष देता है, अपने को अच्छा समझता है, कोई संसार को ही सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है, कोई परमार्थ ही को परम पुरुषार्थ मान कर घर-बार तृण-सा छोड़ देता है। अपने-अपने रंग में सब रँगे हैं। जिसने जो सिद्धांत कर लिया है वही उसके जी में गड़ रहा है और उसीके खंडन-मंडन में जन्म बिताता है, पर वह जो परम प्रेम अमृत-मय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह-स्वरूप ज्ञान विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आपसे आप खुल जाता है—वह किसी को नहीं मिली; मिले कहाँ से ! सब उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं।

शुकदेव—यह महर्षि कृष्ण द्वैपायन के तपोनिष्ठ और ब्रह्म ज्ञानी पुत्र थे। महाराज परीक्षित ने अपने जीवन के अंतिम काल मे इन्हीं से श्री मद्भागवत की कथा सुनी थी। **विलक्षण**—अद्भुत। **मत-मतांतर**—भिन्न भिन्न धर्म। **परमार्थ**—मोक्ष साधन। **परम प्रेम अमृत-मय एकांत भक्ति**—उस मन की सच्ची भक्ति, जो परम प्रेम मय भगवान के अमृत रूपी प्रेम से परिपूर्ण हो। **नेम धर्म**—वह धर्म जो मर्यादा के अनुसार हो। **आग्रह-स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अंधकार**—हठ स्वरूप वह अंधकार, जो शास्त्र ज्ञान और ब्रह्म ज्ञान इत्यादि द्वारा जनित माया और अविद्या के कारण होता है। **निगड़**—लोहे की बनी हुई बेड़ी।

सारांश—शुकदेव मुनि संसार के जीवों का चित्र खींचते हुए कहते हैं, कि कोई अविद्या के अंधकार में डूब कर मर्यादा के पथ पर चल रहा है, कोई ज्ञान के अभिमान मे डूबा हुआ है, कोई विविध मतों के स्थापनार्थ विवादों-विग्रहों मे संलग्न है, कोई लौकिक आसक्तियों के पंथ में लिप्त है, कोई विरक्त बन कर मोक्ष साधन में लीन है, पर पुष्टि मार्ग की भक्ति के बिना यह सब व्यर्थ है।

और भी जो लोग धार्मिक कहाते हैं, उनका चित्त, स्वमत-स्थापन और पर-मत-निरा-करण-रूप वादविवाद से, और जो विचारे विषयी हैं उनका अनेक प्रकार की इच्छारूपी तृष्णा से, अवसर तो पाता ही नहीं कि इधर झुके। (सोचकर) अहा! इस मदिरा को शिवजी ने पान किया है और कोई क्या पिएगा? जिसके प्रभाव से अर्द्धांग में बैठी पार्वती भी उनको विकार नहीं कर सकतीं, धन्य हैं, धन्य हैं और दूसरा ऐसा कौन है। (विचार-कर) नहीं नहीं, ब्रज की गोपियों ने उन्हें भी जीत लिया है। अहा! इनका कैसा विलक्षण प्रेम है कि अकथनीय और अकरणीय है; क्योंकि जहाँ माहात्म्य-ज्ञान होता है, वहाँ प्रेम नहीं होता और जहाँ पूर्ण प्रीति होती है वहाँ माहात्म्य-ज्ञान नहीं होता। ये धन्य हैं कि इनमें दोनों बातें एक संग मिलती हैं, नहीं तो मेरा-सा निवृत्त मनुष्य भी रात-दिन इन्हीं लोगों का यश क्यों गाता?

स्वमत-स्थापन—अपने मत को स्थापित करना। **पर-मत-निरा-करण**—दूसरे के मत को खंडन करना। **विषयी**—संसार के सुख-भोगों में लिप्त रहने वाला। **तृष्णा**—इच्छा, लोलुपता। **अधिकारी**—योग्य; जिसे अधिकार प्राप्त हो। पुष्टि मार्ग के अनुसार भगवान की सेवा का अधिकार उसी को प्राप्त होता है, जिस पर भगवान की कृपा होती है। **मदिरा को शिव जी ने पान किया है**—पुष्टि मार्ग में ब्रह्मा, विष्णु, और शिव को पर ब्रह्म रूपी कृष्ण का अंश माना गया है। भगवान आशुतोष के लिए पुष्टि मार्ग में सर्वत्र कहा गया है, कि वे विष्णु रूप श्री कृष्ण के परम भक्त थे। श्री कृष्ण के प्रेम रूपी मदिरा का उन्होंने पान किया था। **अर्द्धांग**—आधा अंग। **ब्रज की गोपियाँ**—पुष्टि मार्ग में ब्रज की गोपियों का अधिक महत्त्व है। कहा जाता है, कि पुष्टि-मार्ग ब्रज की गोपियों द्वारा ही चलाया गया है। **अकथनीय**—जो न कहा जा सके। **अकरणीय**—जो न किया जा सके। **माहात्म्य ज्ञान**—श्री कृष्ण की महत्ता का ज्ञान; अर्थात् यह कि वे ही पर ब्रह्म परमात्मा, और वे ही सेव्य, आराध्य तथा रक्षक हैं। **निवृत्त**—मुक्त, सिद्ध पुरुष।

सारांश—जीव को जगत के सारे विवादों को छोड़कर भगवान श्री कृष्ण की शरण में जाना चाहिए। भगवान श्री कृष्ण जप, तप से नहीं, केवल प्रेम से ही प्राप्त होते हैं। भगवान आशुतोष और ब्रज की गोपियाँ प्रेम के महत्व को भली भाँति जानती हैं। प्रेम से ही माहात्म्य ज्ञान प्राप्त होता है।

(नेपथ्य में वीणा बजती है)

(आकाश की ओर देखकर और वीणा का शब्द सुनकर)

आहा ! यह आकाश कैसा प्रकाशित हो रहा है और वीणा के कैसे मधुर स्वर कान में पड़ते हैं। ऐसा संभव होता है कि देवर्षि भगवान नारद यहाँ आते हैं। अहा ! वीणा कैसे मीठे सुर से बोलती है। (नेपथ्य-पथ की ओर देखकर) अहा ! वही तो हैं, धन्य हैं, कैसी सुन्दर शोभा है !

पिंग जटा को भार सीस पै सुन्दर सोहत।
गल तुलसी की माल बनी जोहत मन मोहत ॥
कटि मृगपति को चरम, चरन मै घुँघरू धारत।
नारायण गोविंद कृष्ण यह नाम उचारत ॥
लै बीना कर बादन करत तान सात सुर सों भरत।
जग अघ छिन मै हरि कहि हरत जेहि सुनि नर भव-जल तरत ॥
जुग तूँबन की बीन परम सोभित मनभाई।
लय अरु सुर की मनहुँ जुगल गठरी लटकाई ॥
आरोहन अवरोहन के कै द्वै फल सोहैं।
कै कोमल अरु तीव्र सुर भरे जग-मन मोहैं ॥
कै श्रीराधा अरु कृष्ण के अगनित गुन गन के प्रगट।
यह अगम खजाने द्वै भरे नित खरचत तो हू अघट ॥

प्रकाशित—चमकता हुआ; ज्योतित। **मधुर**—मीठा। **नारद**—भगवान विष्णु के सुप्रसिद्ध भक्त, और ब्रम्हा के मानस पुत्र। अनवरत 'तपेण' मे रत रहने के कारण उनका 'नारद' नाम प्रसिद्ध हुआ है **पिंग**—पीला। **सोहत**—शोभा देती है। **जोहत**—देखने से। **कटि**—कमर। **मृगपति**—सिंह। **चरम**—चमड़ा। **उचारत**—कहते हैं। **सात सुर**—सप्त स्वर, षड्ज, ऋषभ, मध्यम, पंचम, धैवत, और निषाद। **हरि**—विष्णु भगवान; श्री कृष्ण। **अघ**—पाप। **जुग**—दो। **लय अरु सुर** सगीत का ताल और ध्वनि। लय के तीन भेद होते हैं—द्रुत, मध्य, और विलंबित। **आरोहन अवरोहन**—स्वरो का चढ़ाव, और उतार। **कोमल अरु तीव्र**—स्वर का दो भेद। कोमल मृदुल स्वर को कहते है। तीव्र कुछ ऊँचा होता है। **गुन गन**—गुणों का समूह। **अगम**—अथाह; गहरा। **अघट**—जो न घटे।

सारांश—नेपथ्य में नारद की वीणा का स्वर सुनाई पड़ता है। शुकदेव मुनि चकित होकर आकाश की ओर देखते हैं, और नेपथ्य पथ में वीणा धारी नारद जी को देख कर उनके वेश, उनकी वीणा, उनकी कृष्ण भक्ति और उनकी वीणा के स्वरों की प्रशंसा करते हैं।

मनु तीरथ-मय कृष्ण-चरित की काँवरि लीने ।
कै भूगोल खगोल दोउ कर-अमलक कीने ॥
जग-बुद्धि तौलन हेत मनहुँ यह तुला बनाई ।
भक्ति-मुक्ति की जुगल पिटारी कै लटकाई ॥
मनु गावन सों श्रीराग के बिना हू फलती भई ।
कै राग-सिंधु के तरन हित, यह दोऊ तूँबी लई ॥
ब्रह्म-जीव, निरगुन-सगुन, द्वैताद्वैत-विचार ।
नित्य-अनित्य विवाद के द्वै तूँबा निरधार ॥
जो इक तूँबा लै कढ़ै, सो बैरागी होय ।
क्यों नहि ये सबसों बढ़ै, लै तूँबा कर दोय ॥

तो अब इनसे मिलके आज मैं परमानन्द लाभ करूँगा ।

(नारदजी आते हैं)

शुक०—(आगे बढ़कर और गले से मिलकर) आइए, आइए, कहिए कुशल तो है ? किस देश को पवित्र करते हुए आते हैं ?

नारद—आप से महापुरुष के दर्शन हों और फिर भी कुशल न हो, यह बात तो सर्वथा असम्भव है; और, आप से तो कुशल पूछना ही व्यर्थ है ।

शुक०—यह तो हुआ, अब कहिए आप आते कहाँ से हैं ?

नारद—इस समय तो मैं श्रीबृन्दावन से आता हूँ ।

शुक०—अहा ! आप धन्य हैं जो उस पवित्र भूमि से आते हैं । (पैर छूकर) धन्य है, उस भूमि की रज, कहिए वहाँ क्या-क्या देखा ?

मनु—माना । **तीरथ मय कृष्ण-चरित**—श्री कृष्ण का चरित्र संपूर्ण तीर्थों के सदृश है । **काँवरि**—बँहगी । **भूगोल**—वह विद्या जिससे भू के देशों, पर्वतों, नदियों और समुद्रों का हाल ज्ञात होता है । **खगोल**—वह विद्या जिससे आकाश के नक्षत्रों का ज्ञान प्राप्त होता है । **कर अमलक**—हाथ का आँवला; हाथ पर रक्खे हुये आँवले की भाँति देखी, और समझी जाने वाली वस्तु । **तुला**—तराजू । **श्रीराग**—एक विशेष मधुर राग । राग छः हैं—भैरव, कौशिक, हिन्दोल, दीपक, श्री और मेघ । **रागसिंधु**—राग का समुद्र, प्रेम का समुद्र । **तूंबी**—वीणा के निम्न भाग में लगा हुआ कद्दू से बनाया गया खोखला पात्र । इसे संस्कृत में ककुभ और प्रसेवक कहते हैं । **निरगुन**—निर्गुण, सत्व, रज, और तम-तीनों गुणों से परे । **सगुण**—साकार; सत्व, रज और तम-तीनों गुणों से संयुक्त । **द्वैताद्वैत**—द्वैत+अद्वैत । द्वैत-दर्शन शास्त्र का एक विशेष सिद्धान्त, जिसके अनुसार ईश्वर और जीव की सत्ता को पृथक पृथक रूप में स्वीकार किया जाता है । मध्वाचार्य इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं । अद्वैत-वह सिद्धान्त जिसके अनुसार आत्मा और परमात्मा में किसी बात का भेद नहीं माना जाता; तथा जिसमें केवल ब्रम्ह की सत्ता को ही मान्यता दी जाती है । शंकराचार्य जी इसके प्रवर्तक हैं । **नित्य-अनित्य**—नित्य-शाश्वत, अविनाशी । अनित्य-नाशवान् । **श्री वृन्दावन**—मथुरा, समीपवर्ती एक पवित्र स्थान, जो भगवान् श्री कृष्ण का क्रीड़ा क्षेत्र है ।

सारांश—शुकदेव जी नारदजी की भक्ति, उनके पर्यटन, उनके ज्ञान, उनके संगीत, और उनके ब्रम्ह निरूपण की प्रशंसा करते हुए उनसे पूछते हैं, कि वे कहाँ से आ रहे हैं । उत्तर में नारद जी श्री 'वृन्दावन' का नाम लेते हैं, और उसकी महानता का चित्रण करते हैं ।

नारद—वहाँ पर प्रेमानन्दमयी श्रीव्रजवल्लभी लोगों का दर्शन करके अपने को पवित्र किया और उनकी विरहावस्था देखता बरसों वहीं भूला पड़ा रहा। अहा, ये श्रीगोपीजन धन्य हैं। इनके गुणगण कौन कह सकता है—

गोपिन की सरि कोऊ नाहीं।
जिन तृन-सम कुल-लाज-निगड़ सब तोरयो हरिरस माहीं॥
जिन निज बस कीने नँदनंदन बिहरीं दै गलबाँहीं।
सब संतन के सीस रहौ इन चरन-छत्र की छाँहीं॥
व्रज की लता पता मोहिं कीजै।
गोपी-पद-पंकज-पावन की रज जामैं सिर भींजै॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्रीराधे राधे मुख, यह बर मुँह माँग्यो हरि दीजै।

(प्रेम-अवस्था में आते हैं और नेत्रों से आँसू बहते हैं)

शुक०—(अपने आसू पोंछकर) अहा धन्य हैं आप, धन्य हैं, अभी जो मैं न सम्हालता तो वीणा आपके हाथ से छूटके गिर पड़ती। क्यों न हो, श्रीमहादेवजी की प्रीति के पात्र होकर आप ऐसे प्रेमी हो इसमें आश्चर्य नहीं।

नारद—(अपने को सम्हालकर) अहा! ये क्षण कैसे आनन्द से बीते हैं यह आपसे महात्मा की संगत का फल है।

प्रेमानन्द मयी श्री व्रज वल्लभी लोग—श्री कृष्ण भगवान के प्रेमानन्द से परिपूर्ण भक्त लोग। **विरहावस्था**—विरह अवस्था—विरह की दशा। पुष्टि मार्ग के सिद्धांतानुसार विरह की अवस्था का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि पुष्टि मार्ग मे संयोगावस्था की भाँति विरहावस्था मे भी भक्त भगवान का सानिध्य प्राप्त करता है। **गोपीजन**—श्री कृष्ण के प्रेम में तन्मय होने वाली गोपियां। **सरि**—समान। **निगड़**—जंजीर। **हरिरस**—श्री कृष्ण का प्रेम रूपी आनन्द। **माँही**—मे। **चरन-छत्र**—चरण रूपी छाता। **छाँही**—छांह। **लता-पता**—लता और पत्ते। **पावन**—पवित्र। **जामैं**—जिसमे। **रूप-सुधा**—रूप का अमृत। **श्री महादेवजी की प्रीति**—पुराणो मे श्री महादेव जी की विष्णु जी के प्रति प्रीति प्रशंसनीय है।

सारांश—नारद जी श्री वृन्दावन और गोपियों की प्रीति की प्रशंसा करते हैं। वे अपने हृदय की आकांक्षा भी प्रगट करते हैं, कि भगवान उन्हें ब्रज का निवास दें; जिससे उन्हें गोपियों के दर्शन का लाभ हो। शुकदेव मुनि नारद की भक्ति की प्रशंसा करते है।

शुक०—कहिए, उन सब गोपियों में प्रेम विशेष किसका है ?

नारद—विशेष किसका कहूँ और न्यून किसका कहूँ, एक से एक बढ़कर हैं। श्रीमती की कोई बात ही नहीं, वे तो श्रीकृष्ण ही हैं, लीलार्थ दो हो रही हैं; तथापि सब गोपियों में श्रीचंद्रावलीजी के प्रेम की चर्चा आजकल तो व्रज के डगर-डगर में फैली हुई है। अहा ! कैसा विलक्षण प्रेम है, यद्यपि माता-पिता, भाई-बंधु सब निषेध करते हैं और उधर श्रीमतीजी का भी भय है, तथापि श्रीकृष्ण से जल में दूध की भाँति मिल रही हैं। लोकलाज, गुरुजन कोई बाधा नहीं कर सकते। किसी उपाय से श्रीकृष्ण से मिल ही रहती हैं।

शुक०—धन्य हैं, धन्य हैं ! कुल को वरन् जगत् को अपने निर्मल प्रेम से पवित्र करनेवाली हैं।

(नेपथ्य में वेणु का शब्द होता है)

अहा ! यह वंशी का शब्द तो और भी व्रजलीला की सुधि दिलाता है। चलिए, चलिए अब तो व्रज का वियोग सहा नहीं जाता; शीघ्र ही चलके उनका प्रेम देखें, उस लीला के बिना देखे आँखें व्याकुल हो रही हैं।

(दोनो जाते हैं)

॥ इति प्रेममुख नामक विष्कंभक ॥

न्यून—कम। **श्रीमती**—यहाँ श्री कृष्ण की मुख्य महिषी और प्रेम-पात्रिणी राधिका से तात्पर्य है। **लीलार्थ**—लीला के निमित्त। **लीलार्थ दो हो रही हैं**—श्री कृष्ण ब्रह्म है। और राधा ब्रह्म रूपी श्री कृष्ण से निकली हुई उनकी माया। यद्यपि दोनो एक ही है, पर लीला के उद्देश्य से दोनो ने पृथक-पृथक रूप धारण किया है। **डगर डगर**—प्रत्येक मार्ग मे। **निषेध करना**—मना करना, रोकना। **जल में दूधकी भाँति मिलना**—किसी प्रकार का भेद-भाव न रखना; अभिन्न होना। **वेणु**—वंशी। पुष्टि मत के अनुसार वैणु-रव का आनन्द 'ब्रम्हानन्द' है।

सारांश—शुकदेव जी की जिज्ञासा पर नारद जी गोपियों के प्रेम की प्रशंसा करते हैं। गोपियों में चंद्रावली के प्रेम को वे सबसे अधिक अभिन्न बताते है। शुकदेव मुनि भी चंद्रावली के प्रेम की अभिन्नता की प्रशंसा करते हैं।

पहिला अंक

(जवनिका उठी)

स्थान—श्री वृन्दावन, गिरिराज दूर से दिखाता है

(श्री चन्द्रावली और ललिता आती हैं)

ललिता—प्यारी, व्यर्थ इतना शोच क्यों करती है ?

चंद्रा०—नहीं सखी ! मुझे शोच किस बात का है ।

ललिता—ठीक है, ऐसी ही तो हम मूर्ख हैं कि इतना भी नहीं समझतीं ।

चंद्रा०—नहीं सखी ! मैं सच कहती हूँ, मुझे कोई शोच नहीं ।

ललिता—बलिहारी सखी ! एक तू ही तो चतुर है, हम सब तो निरी मूर्ख हैं ।

चंद्रा०—नहीं सखी ! जो कुछ शोच होता तो मैं तुझसे कहती न । तुझसे ऐसी कौन बात है जो छिपाती ?

ललिता—इतनी ही तो कसर है, जो तू मुझे अपनी प्यारी सखी समझती तो क्यों छिपाती ?

चंद्रा०—चल, मुझे दुख न दे, भला मेरी प्यारी सखी तू न होगी, और कौन होगी ?

ललिता—पर यह बात मुख से कहती है, चित्त से नहीं ।

चंद्रा०—क्यों ?

ललिता—जो चित्त से कहती तो फिर मुझसे क्यों छिपाती ?

चंद्रा०—नहीं, सखी ! यह केवल तेरा झूठा सन्देह है ।

ललिता—सखी ! मै भी इसी व्रज में रहती हूं और सब के रंग-ढंग देखती ही हूं । तू मुझसे इतना क्यों उड़ती है ? क्या तू यह समझती है कि मैं यह भेद किसी से कह दूंगी ? ऐसा कभी न समझना । सखी, तू तो मेरी प्राण है, मै तेरा भेद किससे कहने जाऊँगी ?

चंद्रा०—सखी ! भगवान् न करे कि किसी को किसी बात का संदेह पड़ जाय; जिसको जो संदेह पड़ जाता है वह फिर कठिनता से मिटता है ।

ललिता—अच्छा ! तू सौगंद खा ।

जवनिका—पर्दा, (देखो भू०) **गिरिराज**—गोवर्द्धन पर्वत । भगवान श्री कृष्ण ने प्रलय उपस्थित होने पर इसी पर्वत को अपनी उँगली पर उठाया था । **निरी**—बिलकुल । **मुख से कहती है चित्त से नहीं**—हृदय के भीतर भेद रखना; दुराव । **उड़ती है**—चालाकी से बात छिपाने का प्रयत्न करती है; बातें बनाती है ।

सारांश—चन्द्रावली और उसकी सखी ललिता का पारस्परिक वार्तालाप है । वार्तालाप में ललिता, चन्द्रावली के अन्तर के प्रेम को जानना चाहती है, किन्तु चन्द्रावली उसे छिपाने का प्रयत्न करती है ।

चंद्रा०—हाँ सखी ! तेरी सौगंद ।

ललिता—क्या मेरी सौगंद ?

चंद्रा०—तेरी सौगंद कुछ नहीं है ।

ललिता—क्या कुछ नहीं है, फिर तू चली न अपनी चाल से ? तेरी छलविद्या कही नहीं जाती, तू व्यर्थ इतना क्यों छिपाती है ! सखी ! तेरा मुखड़ा कहे देता है कि तू कुछ सोचा करती है ।

चंद्रा०—क्यों सखी ! मेरा मुखड़ा क्या कहे देता है ?

ललिता—यही कहे देता है कि तू किसी की प्रीति में फँसी है ।

चंद्रा०—बलिहारी सखी ! मुझे अच्छा कलंक दिया ।

ललिता—यह बलिहारी कुछ काम न आवेगी, अत में फिर मैं ही काम आऊँगी और मुझीसे सब कुछ कहना पड़ेगा, क्योंकि इस रोग का वैद्य मेरे सिवा दूसरा कोई न मिलेगा ।

चंद्रा०—पर सखी ! जब कोई रोग हो तब न ?

ललिता—फिर वँही बात कहे जाती है, अब क्या मैं इतना भी नहीं समझती ! सखी ! भगवान ने मुझे भी आँखें दी हैं और मेरे भी मन है और मैं कुछ ईंट-पत्थर की नहीं हूं ।

चंद्रा—यह कौन कहता है कि तू ईंट पत्थर की बनी है, इससे क्या ?

ललिता—इससे यह कि इस ब्रज में रहकर उससे वही बची होंगी जो ईंट-पत्थर की होगी

सौगंद—शपथ । **चली न अपनी चाल से**—कपट की ओर संकेत है; कपट पूर्ण आचरण । **छल विद्या**—धूर्तता । **कलंक**—दोष । **मुखड़ा का कहना**—मुखाकृति से पता लगना । **रोग कां वैद्य**—रोग का चिकित्सक; ललिता का संकेत उस प्रेम रोग की तरफ है, जिससे चंद्रावली व्याकुल है । उसका कथन है, कि वह चंद्रावली के प्रेम रूपी रोग को शांत करने में सहायिका बन सकती है । **ईंट पत्थर की नहीं हूँ**—हृदय मे शून्य नहीं हूं ।

सारांश—इस पृष्ठ में चन्द्रावली और ललिता की बात चीत अग्रसर हुई है ।'चन्द्रावली' अपने आंतरिक प्रेम को गुप्त रखने के लिए ललिता का शपथ खाती है । ललिता उसकी मुद्रा से उसके हृदय की वास्तविकता को समझ तो जाती है; पर वह वास्तविक बात उसके मुख से कहलवाना चाहती है । वह चंद्रावली को उसके लिए प्रोत्साहन देती है, और अपनी मर्मज्ञता को भी प्रगट करती है ।

चंद्रा०—किस से ?

ललिता—जिसके पीछे तेरी यह दशा है।

चंद्रा०—किसके पीछे मेरी यह दशा है ?

ललिता—सखी ! तू फिर वही बात कहे जाती है। मेरी रानी, ये आँख ऐसी बुरी हैं कि जब किसी से लगती हैं तब कितना भी छिपाओ नहीं छिपतीं।

छिपाये छिपत न नैन लगे।
उघरि परत, सब जानि जात हैं घूँघट में न खगे ॥
कितनो करो दुराव, दुरत नहीं जब ये प्रेम-पगे।
निडर भए उघरे से डोलत मोहनरंग रँगे ॥

चंद्रा०—वाह सखी ! क्यों न हो, तेरी क्या बात है। अब तू ही तो एक पहेली बूझनेवालों में बची है। चल, बहुत झूठ न बोल, कुछ भगवान से भी डर।

ललिता—जो तू भगवान से डरती तो झूठ क्यो बोलती ? वाह सखी ! अब तो तू बड़ी चतुर हो गई है। कैसा अपना दोष छिपाने को मुझे पहिले ही से झूठी बना दिया। (हाथ जोड़ कर) धन्य है, तू दंडवत् करने के योग्य है। कृपा करके अपना बाँयाँ चरण निकाल तो मैं भी पूजा करूँ ! चल मै आज पीछे तुझसे कुछ न पूछूँगी।

चंद्रा०—(कुछ सकपकानी सी होकर) नहीं सखी, तू क्यों झूठी है, झूठी तो मैं हूं, और जो तू ही बात न पूछेगी तो कौन बात पूछेगा ? सखी ! तेरे ही भरोसे तो मैं ऐसी निडर रहती हूं और तू ऐसी रूसी जाती है।

ललिता०—नहीं, बस अब मैं कभी कुछ नहीं पूछने की। एक बेर पूछ कर फल पा चुकी।

चंद्रा०—(हाथ जोड़कर) नहीं सखी ! ऐसी बात मुँह से मत निकाल। एक तो मै आप ही मर रही हूँ, तेरी बात सुनने से और भी अधमरी हो जाऊँगी। (आँखों में आँसू भर लेती है)।

आँख लगना—प्रेम होना। **उघरि परत**—रहस्य प्रगट हो जाता है। **खगे**—छिपना। **दुराव**—छिपाव। **दुरत नहीं**—छिपते नहीं। **पगे**—सने हुए। **प्रेम पगे**—प्रेम रस मे सने हुए। **उघरे से डोलत**—पर्दे से अर्थात् घूँघट से बाहर निकलते है। **मोहन रंग रंगे**—श्री कृष्ण के प्रेम मे रँगे हुए। **पहेली बूझना**—गुप्त बात का पता लगाने के लिए प्रयत्न करना। **बाँयाँ चरण...पूजा करूं**—दाहिना चरण पूजने की रीति है; पर स्त्रीका बाँया ही चरण पूजा जाता है। यहाँ चन्द्रावली की चतुराई की कला की महत्ता को प्रदर्शित करने के हेतु कहा गया है **सकपकानी**—स्तब्ध सी होकर ! **रूसी जाती है**—रुष्ट हुई जाती है।

सारांश—चन्द्रावली अपनी प्रेमावस्था को छिपाना चाहती है। किन्तु ललिता उसकी नेत्र-स्थिति से वास्तविकता का आभास पा जाती है, और उस पर असत्य बोलने का दोष लगा कर कुछ रुष्ट सी हो जाती है। उसकी रुष्टता से चंद्रावली अधीर हो पड़ती है, और अपने को उसके हाथ में दे देती है।